शोध सरोवर पत्रिका

आरती, वषुतक्काटु, तिरुवनंतपुरम-695 014, केरल राज्य।

RNI No. KERHIN/2017/70008 ISSN No.2456-625 X

वर्ष 10 अंक 40 | **त्रैमासिक हिन्दी शोध पत्रिका** | 10 अक्तूबर, 2026

पीयर रिव्यू समिति :

प्रो.(डॉ.) शांति नायर

प्रो (डॉ.) के श्रीलता

प्रो.(डॉ.) बी.अशोक

मुख्य संपादक
डॉ.पी.लता

प्रबंध संपादक
डॉ.एस.तंकमणि अम्मा

सह संपादक
प्रो.सती के
डॉ.एस.लीलाकुमारी अम्मा
श्रीमती वनजा पी

संपादक मंडल
डॉ.बिन्दु सी.आर
डॉ.षीना यू.एस
डॉ.सुमा आई
डॉ.एलिसबत जोर्ज
डॉ.लक्ष्मी एस.एस
डॉ.धन्या एल
डॉ.कमलानाथ एन.एम
डॉ.अश्वती जी.आर

सूचना: लेखकों द्वारा प्रकट किये गये मत उनके अपने हैं। उनसे संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।

इस अंक में

संपादकीय

नाटक 'उत्तर प्रश्न' में चित्रित स्त्री-समस्याएँ	: डॉ.अञ्जलि एन	04
डिजिटल कविताःपरंपरागत बनाम ऑनलाइन कविता का तुलनात्मक अध्ययन	: डॉ. संगम वर्मा	06
'दौड़': वैश्वीकरण की लहर में बदलती सामाजिक संरचना,मूल्य तथा संवेदनाएं	: डॉ. अन्सा ए	11
मलयालम भाषा का उद्भव और विकास	: डॉ. राजीव आर	14
सूर साहित्य में कृष्ण की बाल लीला : चिंतन एवं दृष्टि	: डॉ. रवि कुमार गोंड़	17
दुर्गा प्रसाद पारकर के साहित्य में चित्रित छत्तीसगढ़ी लोकगीत	: धर्मेन्द्रकुमार पाटनवार डॉ. अंजलीशर्मा	21
अवधी फाग गीतों में अभिव्यक्त विरह चेतना	: राहुल पटेल	25
'कोणार्क' नाटक और 'कोणार्क' खंडकाव्य: एक तुलनात्मक अध्ययन	: डॉ.धन्या बी	28
स्कूली शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम 2023	: डॉ.पायल आर.भाटिया	35
ढाँचे के संदर्भ में स्वदेशी ज्ञान प्रणाली का उपयोग करते हुए किशोरों का सर्वांगीण विकास	डॉ.रिंकू आर भाटिया	
देश-विदेश में हिंदी की पहचान: चुनौतियाँ और संभावनाएँ	: डॉ.कुमार भास्कर	38
कला और यथार्थ का संगम: मछुआरों की ज़िंदगी पर आधारित सिनेमा का अध्ययन	: आर. सरोजिनी	43
मध्यकालीन हिंदी भक्तिकाव्य परंपरा में कवयित्रियाँ : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	: तनु सिंह	47

लेखकों से निवेदन

भाषा, साहित्य, समाज एवं संस्कृति पर लिखी गयी स्तरीय मैलिक तथा अप्रकाशित रचनाएँ भेजें। प्राकशनार्थ अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखकों से प्राप्त सहमति पत्र भी भेजें। रचनाएँ हिंदी यूनिकोड मंगल फॉन्ट में टंकित होनी चाहिए। लेख के प्रारंभ में लेख का सार अपेक्षित है जो अधिकतम 150 से 200 शब्दों के मध्य हो। सार में लेख लिखने का उद्देश्य अवश्य परिलक्षित होना चाहिए। आलेख के अनुरूप 5 से 7 तक 'की वर्ड' (बीज शब्द) भी लिखें। लेख को यथोचित उपशीर्षकों में विभाजित करके लिखें। लेख के अंत में निष्कर्ष अवश्य दें। शब्द-सीमा 2500 से 3000 शब्दों की हो। आलेख के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची ए.पी.ए. के प्रारूप में हो। लेख भेजते समय अपने नाम, पता, फोन नंबर एवं लेख का शीर्षक ई-मेल में अवश्य लिखें। इस आशय का एक घोषणा-पत्र प्रस्तुत कर दें कि लेख मौलिक है, अप्रकाशित है, भविष्य में इससे संबंधित किसी भी विवाद के लिए लेखक उत्तरदायी होंगे।

रचना के अंत में पूरा डाक पता, मोबाइल नंबर और ई-मेल पता अंकित करें। संक्षिप्त जीवन-परिचय और फोटो भी भेजें।

डॉ.पी.लता
संपादक
शोध सरोवर पत्रिका

मूल्य : एक प्रति रु.100/-
वार्षिक शुल्क रु.400/-

पत्रिका के संबंध में अधिक जानकारी केलिए संपर्क करें - डॉ.पी.लता (संपादक, शोध सरोवर पत्रिका; मंत्री, अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी), आरती, टी.सी. 14/1592, फोरस्ट ऑफीस लेन, ई-28, वषुतक्काटु, तिरुवनन्तपुरम - 695 014, केरल राज्य।

फोन :9946679280, 9946253648

ई-मेल : akhilbharatheeyhindiacademy@gmail.com

संपादकीय

देहांत है दुखद

किसी का भी देहांत होना दुखदायक है। वह एक समर्पित सेवी का हो तो क्या कहें? एक समर्पित हिन्दी सेवी डॉ.जे.रामचन्द्रन नायर जी केरलम को नष्ट हुए हैं।

पूर्व 'अहिन्दी क्षेत्र' तथा वर्तमान 'हिन्दीतर क्षेत्र' केरलम (पूर्व नाम 'केरल') के हिन्दी सेवी डॉ.जे.रामचन्द्रन नायर जी 30.08.2026 को एरणाकुलम जिले के अपने घर में दिवंगत हुए। वे 79 साल के थे और बहुआयामी व्यक्तित्व से धनी थे। हिन्दी प्राध्यापक, मौलिक हिन्दी लेखक, अनुवादक, कोशकार, प्रत्रिका संपादक, प्रशासक जैसे विविध पदों को सफलतापूर्वक निभाया था। मासिक कवि सम्मेलनों में भाग लेकर सुन्दर-सुन्दर कविताएँ प्रस्तुत करते थे।

रामचन्द्रन नायर जी दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, एरणाकुलम की संस्थापक समिति के सदस्य थे। यही नहीं, इस सभा के विदूर शिक्षा विभाग के उपनिदेशक का पद भी अलंकृत किया था। इस सभा के कोट्टुङ्ङल्लूर क्षेत्रीय कार्यालय के अध्यक्ष भी थे। केन्द्र सरकार के कुछ विभागों-स्टील एण्ड मैन्स, सिविल एविएशन टूरिसम एण्ड ट्राईबल अफयेर्स आदि -की एक निश्चित अवधि में सलाहकार समिति के सदस्य भी रहे।

केरलम के वरिष्ठ हिन्दी प्रचारक, प्राध्यापक तथा लेखक स्वर्गीय प्रो.आर.जनार्द्दनन पिल्लै जी का बेटा जे.रामचंद्रन नायर जी अपने पिताजी का सच्चा अनुगामी था। नायर जी हिन्दी में उच्च शिक्षा जैसे- एम.ए (हिन्दी), पीएच.डी (हिन्दी), साहित्य रत्न, प्रचारक डिप्लोमा, राष्ट्रभाषा प्रवीण आदि हासिल करने के बाद अपने पिताजी जैसे ही कॉलेज में प्राध्यापक बने, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा से जुड़कर हिन्दी सेवा की तथा विविध विधाओं में श्रेष्ठ रचनाओं का प्रणयन भी किया। पहले सी एम एस कॉलेज, कोट्टयम में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। फिर एन एस एस कॉलेज में प्राध्यापक बने और एन एस एस के विविध कॉलेजों में अध्यापनवृत्ति के बाद अपने पिताजी जैसे ही महात्मा गाँधी कॉलेज, तिरुवनंतपुरम के हिन्दी विभागाध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त हुए। सन् 2002 में सेवानिवृत्ति के बाद सतत लेखन-कार्य में लीन हुए।

नायर जी कवि, आलोचक, जीवनीकार तथा निबंधकार हैं। अन्य विधाओं की रचनाओं की अपेक्षा कविताएँ संख्या में अधिक है। सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर लिखी कई कविताएँ व्यंग्यात्मक हैं। 'अगर मैं गौतम होता (1986)', 'सिंहासन गीला था (1994)', 'शरीफ आदमी है (1999)', 'मंत्री और वादा (2002)', 'इंद्रप्रस्थ में गिद्ध (2013)' आदि प्रकाशित कविता संकलन हैं। 'एक दिन की रानी' कविता में दीन-हीन युवती का चित्रण कितना हृदयस्पर्शी है-

'काले-काले नयनों से
आँसू टपकती
सुंदर अलकें बिखरी
हड्डी-पसली उभरी
मुट्ठी भर चारे के लिए
खून पसीना कर रही थी'

प्रकाशित साहित्यिक निबंध संकलन है 'हिन्दी साहित्य निबंध'। दो आलोचना ग्रंथ प्रकाशित हैं- (1) छायावादी काव्य दर्शन और (2) आधुनिक हिन्दी काव्य में व्यंग्य।

अनुवादक नायर जी ने डॉ धरमवीर आई ए एस (पूर्व प्रिंसिपल सचिव, केरल सरकार) के 'पहला खत' उपन्यास का 'आद्यत्ते कत्तु' नाम से मलयालम में अनुवाद किया।

पुष्कर पुष्प द्वारा लिखित भारत के पूर्व राष्ट्रपति गियानी ज़ेल सिंह (1982-87) की जीवनी का मलयालम में सन् 1990 में नायर जी ने अनुवाद किया।

नायर जी भाषा पंडित थे और उनसे संपादित और प्रकाशित तीन कोश ग्रंथ हैं- हिन्दी-मलयालम पॉकेट डिक्शनरी (1985), हिन्दी-हिन्दी-इंग्लिश-मलयालम डिक्शनरी, मलयालम-हिन्दी डिक्शनरी (2005) आदि।

केरलम से 1990-91 काल में प्रकाशित मासिक पत्रिका 'ओमेगा' के आप संपादक रहे।

कर्मनिष्ठ डॉ.जे रामचन्द्रन नायर जी कुछ पुरस्कारों से भी विभूषित हुए, जैसे-हिन्दी लघु पत्र-पत्रिका समन्वय मंच का पुरस्कार (कानपुर), हिन्दी

साहित्य सम्मेलन (अलहाबाद) का पुरस्कार, अखिल भारतीय साहित्यकार अभिनंदन समिति का पुरस्कार (आगरा), दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) का पुरस्कार, केरल हिन्दी साहित्य अकादमी पुरस्कार आदि।

तिरुवनंतपुरम के करिक्कम तोट्टुपुरम घर में प्रो.आर.जनार्द्दनन पिल्लै और सीतम्मा की चार संतानों में सबसे बड़े हैं प्रो.(डॉ.)जे.रामचंद्रन नायर जी। बहन प्रो.(डॉ.)एस.तंकमणिअम्मा, विदुषी, वाग्मी और नामी लेखिका हैं। पत्नी का नाम है वैजयंती। एकमात्र बेटी डॉ.देविका राणी स्वास्थ्य विभाग में मेडिकल अफ्सर (आयुर्वेद) है। दामाद विनोय इंजीनियर है। अपने सारे संबंधियों, मित्रों, शिष्यों तथा परिचितों से उनका स्नेहिल व्यवहार कभी भूला नहीं जा सकता।

आदरणीय प्रो.(डॉ.) जे रामचन्द्रन नायर जी के स्वर्गस्थ होने से केरलम के हिन्दी धरातल में हुई दरार की भराई मुश्किल है। दिवंगत आत्मा को शत-शत नमन और भावभीनी श्रद्धांजलि।

◆डॉ.पी.लता

संपादक, शोध सरोवर पत्रिका

(मंत्री, अखिल भारतीय हिन्दी अकादमी)।



नाटक 'उत्तर प्रश्न'में चित्रित स्त्री-समस्याएँ

◆ डॉ.अञ्जलि एन

सारांश: मीराकान्त नारी विमर्श की गंभीर एवं संवेदनशील नाटककार हैं। आपका नाटक "उत्तर प्रश्न" चिरन्तन स्त्री-प्रश्नों का अभिलेख है । यह नाटक सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर स्त्री अधिकारों की माँग करता है। स्त्री और पुरुष को समान अधिकार मिलनेवाली सामाजिक व्यवस्था की अभिलाषा इसमें प्रस्तुत की गयी है ।

बीज शब्द: स्त्री-संघर्ष, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, राज्याभिषेक, सत्ता।

समकालीन हिन्दी नाटक स्त्री को एक सशक्त छवि के साथ प्रस्तुत करते हैं जो पुरानी रूढ़ियों के खिलाफ एक मज़बूत आवाज़ है । उत्तराधुनिक बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों में स्त्री की अस्मिता के प्रश्न को एक नये आयाम प्रदान करने का प्रयास हिन्दी नाटककारों ने किया है । महिला नाटककारों ने अपने लेखन के बल से सामाजिक असंगतियों के विरुद्ध आवाज़ उठायी है । मीराकान्त इस कोटि में आती है । वे समकालीन नाटककारों में एक सजीव एवं सशक्त हस्ताक्षर हैं । मीराकान्त ने अपने नाटकों में सामाजिक स्वीकृतियों एवं निषेधों की पितृसत्तात्मक स्थापनाओं पर प्रश्न चिह्न लगाया है और उस पूरी व्यवस्था पर कठोर आघात भी किया है । मीराकान्त ने अपने नाटकों में बदलते परिवेश में स्त्री-संघर्षों, अधिकारों, शोषणों एवं विद्रोहों का यथार्थ चित्रण करने के साथ-साथ स्त्री-अस्मिता से जुड़े गंभीर प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं । आपके नाटक राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर तीखा प्रहार करते हैं । इनके नाटकों में मिथक, यथार्थ और फैंटसी हैं ।

मीराकान्त ने अपने नाटक उत्तर-प्रश्न में स्त्री की पहचान, शक्ति और योग्यता के प्रति अपनी आस्था तथा विश्वास को प्रकट किया है । यह नाटक आधुनिक युग का प्रासंगिक प्रश्न है और स्त्री-विमर्श का अगला सोपान भी । इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने एक ऐसी संतुलित व्यवस्था की अभिलाषा प्रकट की है जहाँ स्त्री व पुरुष दोनों समतामूलक मानव मूल्यों से युक्त हो । इस मायने में यह नाटक एक नयी पुरुष पीढ़ी तैयार करने का सपना पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है । यह एक स्त्री की सत्ता के प्रति लोलुप लिप्सा नहीं, बल्कि अपने जायज अधिकारों केलिए किये गये उसके संघर्ष की गाथा है । यह नाटक मीराकान्त के 'नेपथ्य राग' नाटक की स्त्री-समस्याओं को आगे ले जाते हुए उसका एक नया आयाम प्रस्तुत करता है । नाटककार पौराणिक कथा को आधार बनाकर स्त्री की आधुनिक स्थिति को प्रस्तुत करती है । कल्हण की 'राजतरंगिणी' के एक लघुप्रसंग के इर्द-गिर्द

बुना गया यह नाटक कश्मीर की पहली महिला शासक यशोवती की कहानी है। 'राजतरंगिणी' के इतिवृत्त के अनुसार कश्मीर की पहली महिला शासक थी यशोवती, जो गोनन्दवंश की पुत्रवधु थी। उपलब्ध कथा के अनुसार यशोवती के राज्याभिषेक के समय कृष्ण के मंत्रिमंडल के लोगों ने आपत्ति प्रकट की थी। अपने मंत्रिमंडल के प्रतिरोध के बावजूद कृष्ण ने स्वर्गीय नरेश दामोदर की गर्भवती पत्नी का राज्याभिषेक किया। यशोवती ने कश्मीर का राज्य-कार्य संभाला और दसवें माह में एक पुत्र को जन्म दिया। राजकुमार के जन्म के पश्चात् उसका जातकर्म संस्कार व राज्याभिषेक साथ-साथ ही करवाए गए। बाल नरेश को सिंहासन पर बिठाकर मन्त्रिगण राज्य का कार्य करते थे।

कल्हाण की यह रचना पढ़कर मीराकान्त के मन में अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए जो 'उत्तरप्रश्न' नाटक के रूप में सामने आया। "महारानी यशोवती के रहते बाल नरेश को सिंहासन पर बैठाकर मंत्रिगण क्यों राज्य-कार्य करने लगे ? अपने पिता के सिंहासन पर बैठे उस बाल नरेश के पैर पाद पीठ तक नहीं पहुँचते थे, ऐसा क्यों कहा गया? क्योंकि बालनरेश को सिंहासन पिता से नहीं अपनी माता से मिला था। क्या यशोवती ने राजसिंहासन स्वेच्छा से छोड़ा या उसे पुरुष-सत्ता ने साम-दाम-दंड-भेद से पदच्युत किया।"[1]

राजतरंगिणी के कथा-सूत्र पर आधारित होने के बावजूद 'उत्तर-प्रश्न' न कोई ऐतिहासिक नाटक है और न ही पौराणिक। इस नाटक का उद्देश्य इतिहास, मिथक या पुराण का उल्था प्रस्तुत करना भी नहीं है। प्रथम अंक में दी गयी कुछ मिथकीय अन्तर्कथाएँ केवल पृष्ठभूमि का निर्माण करने केलिए हैं। इस नाटक में नाटककार ने आधार-कथा की घटनाओं और पात्रों को एक नया स्वरूप दिया है।

"नाटक की नायिका यशोवती बाहरी और भीतरी तमाम विरोधी ताकतों के सामने चट्टान की तरह दृढ़-संकल्प खड़ी दिखाई देती है। भविष्य चाहे जो भी हो लेकिन अपने वर्तमान में वह मंच के बीचों बीच पूरे आत्मविश्वास और अदम्य साहस के साथ पुरुष वर्चस्व के समक्ष एक विकट चुनौती बनकर खड़ी है। वह स्त्री-विमर्श का एक बिल्कुल नया आयाम लेकर उरस्थित है।"[2]

'उत्तर प्रश्न' में महारानी यशोवती राजसत्ता पर पुरुष के एकल अधिकार को चुनौती देती है। वह कृष्ण की उदारता पर प्रश्नचिह्न लगाती है। "मैं प्रश्न पूछती हूँ - यदि मेरे गर्भ में कन्या-भ्रूण होता तो क्या कृष्ण का मेरे प्रति यही सदय भाव होता? (व्यंग्य के साथ) राज्याभिषेक! मुझे सिंहासन पर बैठाने के पीछे क्या उसी पुरुष सत्ता को अक्षुण्ण रखने का एक उदार उद्यम ही नहीं किया गया?"[3] यहाँ द्रष्टव्य है कि कृष्ण को पता था कि यशोवती के गर्भ में पुत्र है। यदि पुत्री होती तो वह यशोवती को सिंहासन पर नहीं बिठाते। नाटक में कृष्ण उन लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहा है जो समाज में स्त्री का सम्मान सिर्फ अपनी महानता बनाए रखने को करते हैं।

नाटक में महारानी यशोवती अपने शासन की अल्प अवधि में ही राजधर्म को पुरुष-सत्ता के शोषणकारी दमनचक्र से मुक्त करने का साहस दिखाती है। सामन्ती मूल्यों के स्थान पर जनतांत्रिक मूल्यों को सर्वोपरि ठहराती है। यशोवती स्त्री-शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हुए व्यवस्था में व्याप्त उन मूल्यों को चुनौती देती है जो रेश्मी पर्दों की आड़ में स्त्री की संभावनाओं को पददलित करते हैं।

सेनाध्यक्ष, महामात्य, महामंत्री और धर्माध्यक्ष आदि सभी मंत्रिगण पुरुषप्रधान समाज के प्रतीक हैं। स्त्री की अधीनता में कार्य करना इन्हें स्वीकार्य नहीं है। मन्त्रि गण ममता, वात्सल्य, त्याग आदि तथाकथित स्त्री कर्त्तव्यों की दुहाई देकर यशोवती से सत्ता छीनने का प्रयास करने लगे। वे यशोवती के शासन पर व्यंग्य करने लगे। न्यायमंत्री कहते हैं:- "यही चलता रहा तो हम सब तो मूक कठपुतलियों की भाँति महादेवी के संचालन पर नृत्य करते दिखाई देंगे। पद की कोई गरिमा ही नहीं रहेगी।"[4]

यशोवती उनकी कुचालों को भलीभाँति समझती है और उनका विरोध भी करती है। यशोवती कहती है:-

"ये परिषद के सदस्य राजकुमार को राजसिंहासन पर बैठाने की आड़ में राजसत्ता हड़पाने का कुचक्र चला रहे हैं। ये नारी को मातृत्व का पाठ पढ़ाकर आये हैं। एक स्त्री का स्वतन्त्र शासक रूप इन पुरुषों को एक आँख नहीं सुहाता...नहीं सुहा सकता। क्या मैं इस सच्चाई से अवगत नहीं हूँ। गान्धार में यही प्रश्न आपत्ति के रूप में मथुरा के महामंत्री ने उठाया था– राजसिंहासन पर स्त्री।"[5] इससे स्पष्ट है कि ये प्रश्न मात्र द्वापर या कलियुग से संबद्ध नहीं, बल्कि यह तो कालजयी प्रश्न है।

मंत्रिगण षड्यंत्र करके यशोवती के पुत्र का राज्याभिषेक कर सत्ता अपने हाथों में लेना चाहते हैं। वहाँ नाटककार ने यशोवती को स्त्री-संघर्ष के ज्वलन्त रूप में चित्रित करके उनसे कहलाती है : - "महामात्य तक हमारा सन्देश पहुँचाया जाए। उनसे कहना महारानी का आदेश है कि राजकुमार का अभिषेक नहीं होगा। हमारी इस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले को दंड़ दिया जाएगा....मृत्युदंड़।"[6]

वस्तुत: 'उत्तरप्रश्न' नाटक एक जागरूक व बुद्धिमती स्त्री द्वारा प्रस्तुत उस प्रश्न को रेखांकित करता है, जो समाज के सामने नारी को ममता, वात्सल्य, त्याग, समर्पण आदि के नाम पर युगों से शोषण करता चला आ रहा है। वास्तव में स्त्री के अस्तित्व पर यह नाटक सवाल खड़ा करता है। यशोवती के माध्यम से आधुनिक स्त्री समस्याओं को ही उठाया गया है। यह नाटक कहे-सुने स्त्री-प्रश्नों से अलग चिरन्तन स्त्री समस्याओं का वासतविक चित्रण है।

संदर्भ सूची

1. उत्तर प्रश्न – मीराकान्त, स्वराज प्रकाशन -- 2016-भूमिका, पृ.सं.9
2. आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श, जयदेव-2015 –राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.सं.212
3. उत्तर प्रश्न- मीराकान्त, स्वराज प्रकाशन-2016, पृ.सं.69
4. वही, पृ.63
5. वही, पृ.67
6. वही, पृ.71

◆ सहायक आचार्या
कॉलेज, चेर्त्तला
ई मेल: pranavanjali83@gmail.com

डिजिटल कविता:परंपरागत बनाम ऑनलाइन कविता का तुलनात्मक अध्ययन

◆डॉ. संगम वर्मा



सारांश

डिजिटल युग में कविता-लेखन और प्रस्तुति के रूपों में गहरा परिवर्तन देखा गया है। जहाँ परंपरागत कविता पुस्तकों, पत्रिकाओं और मंचीय पाठों तक सीमित थी, वहीं अब कविता सोशल मीडिया प्लेटफार्मों जैसे इंस्टाग्राम, फेसबुक, ब्लॉग्स और यूट्यूब के माध्यम से व्यापक रूप से प्रसारित हो रही है। यह शोध-पत्र डिजिटल कविता और पारंपरिक कविता के बीच अंतर्वस्तु, भाषा, शैली, और पाठकीय संवाद के विभिन्न पक्षों की तुलनात्मक समीक्षा करता है। अध्ययन में यह पाया गया कि डिजिटल कविता तात्कालिकता, दृश्यात्मक प्रस्तुति और पाठकीय सहभागिता को अधिक प्राथमिकता देती है, जबकि पारंपरिक कविता शिल्प, बिंबात्मकता और भाव-संयम पर अधिक केंद्रित रहती है। यह शोध इस बात की भी पड़ताल करता है कि किस प्रकार डिजिटल माध्यमों ने कविता को एक नए पाठकवर्ग तक पहुँचाया है और कवियों को नए अभिव्यक्तिक मंच प्रदान किए हैं।

मुख्य शब्द: डिजिटल कविता, परंपरागत कविता, सोशल मीडिया साहित्य, तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी साहित्य, इंस्टा-पोएट्री, ऑनलाइन अभिव्यक्ति, समकालीन लेखन, साहित्य और टेक्नोलॉजी।

परिचय

कविता मानव मन की संवेदनाओं, कल्पनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति का सबसे प्राचीन और प्रभावशाली माध्यम रही है। इसकी जड़ें वैदिक ऋचाओं से लेकर आधुनिक सामाजिक विमर्शों तक फैली हुई हैं। परंपरागत रूप में कविता का स्वरूप शास्त्रीयता, छंदबद्धता, लयात्मकता और गहराई से युक्त रहा है, जहाँ कवि और पाठक के बीच का संबंध पुस्तक, काव्य संकलन या मंचीय प्रस्तुति के माध्यम से स्थापित होता था। हिंदी साहित्य में कवियों, जैसे- सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इस परंपरा को मजबूत किया और सामाजिक, दार्शनिक तथा राष्ट्रीय चेतना को अपनी कविताओं में समाहित किया। परंतु इक्कीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब सूचना क्रांति ने मानव जीवन को डिजिटल दिशा में मोड़ा, तब साहित्यिक विधाएँ भी इस प्रवाह से अछूती नहीं रहीं। विशेष रूप से कविता ने डिजिटल माध्यमों, जैसे- ब्लॉग, सोशल मीडिया, यूट्यूब, इंस्टाग्राम और डिजिटल पत्रिकाओं-में नए रूपों के साथ स्थान बनाना शुरू किया। इस नवोन्मेषी रूप को "डिजिटल कविता" या "ऑनलाइन कविता" कहा गया, जिसने कविता को पारंपरिक कागज़ और मंच की सीमा से बाहर निकालकर एक वैश्विक, त्वरित और संवादधर्मी मंच प्रदान किया। जहाँ एक ओर परंपरागत कविता में लेखकीय अधिकार, भाषा की परंपरा, छंदों की शुद्धता और पाठकीय व्याख्या का विशेष महत्व रहा है, वहीं दूसरी ओर डिजिटल कविता का स्वरूप अधिक मुक्त, व्यक्तिगत, लघु और तकनीकी उपकरणों से युक्त हो गया है। यह कविता अब केवल शब्दों में नहीं, बल्कि छवि, ध्वनि, वीडियो और इमोजी तक में प्रस्फुटित हो रही है। इसका सीधा असर भाषा, विषय-वस्तु, प्रस्तुति और पाठक-संवाद पर पड़ा है। ऑनलाइन कविता के इस उभार ने साहित्य की पारंपरिक समझ को चुनौती भी दी है और उसे विस्तारित भी किया है। डिजिटल कविता वह साहित्यिक विधा है जो इंटरनेट, मोबाइल ऐप्स, ब्लॉग्स और सोशल मीडिया जैसे डिजिटल प्लेटफॉर्मों पर सृजित, प्रकाशित और प्रचारित होती है। यह कविता पारंपरिक रूप से छपे हुए संग्रहों से भिन्न होती है क्योंकि इसका स्वरूप, प्रस्तुति और वितरण का माध्यम डिजिटल होता है। डिजिटल कविताओं में मल्टीमीडिया के उपयोग जैसे- वीडियो, ऑडियो, ळप्थ्, एनिमेशन आदि ने नए रचनात्मक दरवाज़े खोले हैं। डॉ. सीमा त्रिपाठी की पुस्तक "हिंदी साहित्य और डिजिटल युग" में उल्लेख मिलता है कि "डिजिटल कविता केवल पठन नहीं, बल्कि अनुभव करने की प्रक्रिया है, जो पाठक को एक इंटरेक्टिव मंच प्रदान करती है।"[1] यह शोध इसी द्वंद्वात्मक संबंध- परंपरा और नवाचार-का विश्लेषण करता है। इसके अंतर्गत हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि परंपरागत और डिजिटल कविता के स्वरूप, भाषा, विषय-वस्तु, प्रसार और पाठकीय अनुभव में किस प्रकार के भेद और साम्य देखने को मिलते हैं। इस तुलना के माध्यम से हम यह भी समझ सकेंगे कि डिजिटल माध्यमों ने कविता की अभिव्यक्ति और सामाजिक भूमिका को किस हद तक बदला है, और क्या इससे कविता की साहित्यिक गरिमा को नया आयाम मिला है या संकट।

भाषिक एवं संरचनात्मक भिन्नताएँ

परंपरागत कविता और डिजिटल कविता के बीच सबसे प्रमुख अंतर उनकी भाषा और संरचना में देखा जा सकता है। परंपरागत कविता में भाषा न केवल विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है, बल्कि यह सौंदर्यबोध, सांस्कृतिक चेतना और शिल्पगत अनुशासन का वाहक भी होती है। उदाहरणस्वरूप, जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' या रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'रश्मिरथी' जैसी रचनाओं में संस्कृतनिष्ठ

शब्दावली, लय, छंद, और प्रतीकों की गहराई स्पष्ट देखी जा सकती है। इन कविताओं में प्रयुक्त भाषा न केवल भावों को उभारती है, बल्कि एक कालगत गरिमा और साहित्यिक अनुशासन को भी स्थापित करती है। छंद, अलंकार, अनुप्रास, यमक, उपमा आदि अलंकारों का नियोजित प्रयोग परंपरागत कविता की विशेषता रही है, जो कविता को न केवल पठनीय बल्कि श्रवणीय भी बनाता है।

वहीं दूसरी ओर, डिजिटल कविता की भाषा कहीं अधिक मुक्त, संवादात्मक और समसामयिक होती है। इसमें पारंपरिक अलंकारों या छंदों का प्रयोग कम होता है या इसके स्थान पर कविता सीधी, सरल, और संक्षिप्त अभिव्यक्ति पर केंद्रित होती है। यह प्रवृत्ति आज के सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स की गति और सीमाओं (जैसे कि शब्द सीमा, दृश्यात्मक ध्यानाकर्षण, त्वरित प्रतिक्रिया) के अनुरूप भी है। उदाहरण के लिए, इंस्टाग्राम जैसे माध्यमों पर प्रकाशित लघु कविताओं, जैसे कि YourQuote Terribly Tiny Tale आदि-में शब्दों का चुनाव अत्यंत सरल और आत्मकेंद्रित होता है। इसमें अधिकतर व्यक्तिगत भावनाएँ, संबंधों की जटिलता, मानसिक स्वास्थ्य या आत्मसंवाद के विषयों को बिना किसी जटिल काव्यशास्त्रीय उपकरण के व्यक्त किया जाता है।

संरचना के स्तर पर भी दोनों में गहरा भेद है। परंपरागत कविता में अनुच्छेदों का निर्धारण छंद की लंबाई और विचार की गहराई पर आधारित होता है। उदाहरणस्वरूप, छंदबद्ध दोहा (13-11 मात्राएँ), चैपाई (16 मात्राएँ), या ग़ज़ल की पंक्तियाँ विशेष संख्यात्मक अनुशासन में बंधी होती हैं। वहीं डिजिटल कविता की संरचना अधिक लचीली होती है या यह कवि की शैली, माध्यम और संदेश की ज़रूरतों के अनुसार बदलती रहती है। कभी यह केवल एक पंक्ति में पूरी कविता हो सकती है, तो कभी चित्र के साथ एक वाक्य में पूरी कविता समा सकती है।

डिजिटल कविता की भाषा में अंग्रेज़ी, हिंदी, या क्षेत्रीय भाषाओं का मिश्रण आम है जिसे 'कोड मिक्सिंग' कहते हैं। यह प्रवृत्ति आज के युवाओं की बहुभाषिक अभिव्यक्ति की पहचान बन चुकी है। जैसे- "मुझे तेरी याद तो आती है, but I have learned to smile without you." इस तरह की रचनाएँ पारंपरिक कविता की भाषिक गरिमा से भिन्न होते हुए भी पाठकों से भावनात्मक जुड़ाव कायम करती हैं। यह अंतर न केवल भाषाई स्तर पर स्पष्ट है, बल्कि सामाजिक वर्ग और पीढ़ियों के बीच काव्य की समझ और प्राथमिकताओं में अंतर को भी दर्शाता है। इस प्रकार, भाषिक और संरचनात्मक दृष्टि से डिजिटल कविता ने पारंपरिक कविता से एक अलग मार्ग चुना है, जो समय, माध्यम और समाज की नई माँगों के अनुसार विकसित हुआ है। डिजिटल कविता जहाँ अभिव्यक्ति की आज़ादी और नवाचार को प्राथमिकता देती है, वहीं परंपरागत कविता भाषा और शिल्प की परिपक्वता तथा ऐतिहासिकता का प्रतिनिधित्व करती है।

डिजिटल कविता के विस्तार ने कविता के रूप और उसके उपभोग के तरीकों को भी बदल दिया है। परंपरागत कविता जहाँ मुख्यतः पुस्तकों, पत्रिकाओं और मंचीय प्रस्तुतियों तक सीमित थी, वहीं डिजिटल कविता ने इंटरनेट और मोबाइल तकनीक के माध्यम से कविताओं को एक वैश्विक स्तर पर पहुँचाया है। इसने कवि और पाठक के बीच की दूरी को कम किया है और कविता को अधिक इंटरैक्टिव, सहभागी और बहुआयामी बना दिया है। उदाहरण के लिए, ट्विटर या इंस्टाग्राम जैसे प्लेटफॉर्म पर कविताएँ न केवल पढ़ी जाती हैं बल्कि लाइक, शेयर और कमेंट के माध्यम से तत्काल प्रतिक्रिया प्राप्त करती हैं, जिससे कविता एक संवादात्मक अनुभव बन जाती है। इससे कविताओं की रचना और उपभोग दोनों ही अधिक सामूहिक और गतिशील हो गए हैं। इस प्रकार, परंपरागत कविता और डिजिटल कविता के बीच का

यह संतुलन ही आधुनिक काव्य की बहुआयामीता और समृद्धि का कारण है, जो भाषा, संरचना, माध्यम और पाठक की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप लगातार विकसित हो रहा है।

डिजिटल कविता की सहजता और पहुँच ने युवा पीढ़ी को कविता के प्रति आकर्षित किया है, जो पारंपरिक कविता की जटिलता से कभी-कभी दूर रहती थी। सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स पर कविता की यह नई लहर न केवल भावनाओं की त्वरित अभिव्यक्ति का माध्यम बनी है, बल्कि इससे कई नए कवि भी उभरे हैं जिन्होंने अपनी विशिष्ट शैली और आवाज़ बनाई है। उदाहरण के तौर पर, '#Instapoetry' के रूप में लोकप्रिय इस प्रवृत्ति ने कविता को एक नयी पहचान दी है, जहाँ छोटी-छोटी पंक्तियाँ भी गहरे अर्थ और भावनाओं को संप्रेषित करती हैं। हालांकि, आलोचक यह भी कहते हैं कि इस शैली में कभी-कभी कविता की मौलिकता और भाषा की गहराई कम हो जाती है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि डिजिटल कविता को कम आँका जाए। इसके विपरीत, यह एक नया युग है जहाँ कविता की परिभाषा बदल रही है और यह अधिक समावेशी और बहुभाषिक होती जा रही है। इस प्रकार, डिजिटल कविता ने कविता की पारंपरिक सीमाओं को तोड़कर उसे और अधिक जीवंत और प्रासंगिक बनाया है।

परंपरागत कविता और डिजिटल कविता के बीच एक अन्य महत्वपूर्ण अंतर उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम और प्रस्तुति के तरीकों में भी देखने को मिलता है। परंपरागत कविता हस्तलिखित या मुद्रित रूप में पत्र-पत्रिकाओं, संकलनों और पुस्तकों में प्रकाशित होती है। इसका फॉर्मेट स्थिर और पाठक का अनुभव मुख्यतः शाब्दिक और कल्पनाशील होता है। इसमें भाषाई सौंदर्य, छंद, अलंकार और भावप्रवणता का विशेष महत्व होता है। डॉ. रामनारायण शर्मा,"भारतीय काव्यशास्त्र और कविता",में लिखते हैं कि "कविता का मूल उद्देश्य भावों की सघनता और अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता है, जो छपे हुए शब्दों में परिपूर्णता पाती है।"[2] जहाँ परंपरागत कविता पाठक की कल्पना पर निर्भर होती है, वहीं डिजिटल कविता में टेक्स्ट के साथ-साथ दृश्य और श्रव्य प्रभाव का समावेश होता है। इसका असर पाठक के संवेदनात्मक अनुभव पर गहरा होता है।

डॉ. अश्विनी कुमार मिश्रा की "ई-कविता और नई अभिव्यक्ति विधाएँ" में उल्लेख है कि "डिजिटल प्लेटफॉर्म पर कविता ऑडियो-विज़ुअल प्रस्तुति के माध्यम से पाठक को नई भावभूमि में प्रवेश कराती है।"[3]

परंपरागत कविता का प्रकाशन एक दीर्घ प्रक्रिया है जिसमें संपादन, मुद्रण और वितरण शामिल होता है। वहीं डिजिटल कविता को लेखक स्वतः ब्लॉग, फेसबुक, इंस्टाग्राम, या यूट्यूब जैसे मंचों पर प्रकाशित कर सकता है। डॉ. नीता रघुवंशी ने "डिजिटल युग में साहित्य" में कहा है कि "डिजिटल माध्यमों ने रचनाकारों को संपादकीय चयन की बाध्यता से मुक्त किया है।"[4]

समकालीन साहित्यिक विमर्श में परंपरागत और डिजिटल कविता के बीच समीकरण अक्सर आलोचनात्मक दृष्टि से भी देखा जाता है। जहाँ परंपरागत कविता को भाषा, छंद, और शिल्प की परिपक्वता का प्रतीक माना जाता है, वहीं डिजिटल कविता की आलोचना कभी-कभी उसकी सरसता और लघुत्व के कारण होती है। जैसे कि साहित्यिक आलोचक विनोद कुमार (2018) ने अपनी पुस्तक आधुनिक हिंदी कविता के स्वर में उल्लेख किया है कि डिजिटल कविता "अक्सर काव्यशास्त्रीय गहनता से विमुख होकर तात्कालिक भावनाओं का संक्षिप्त संप्रेषण मात्र रह जाती है।" वे यह भी बताते हैं कि इससे कविता की स्थायी साहित्यिक महत्ता पर प्रश्न उठते हैं। उदाहरण के लिए, इंस्टापोएट्री में मिलने

वाली छोटी-छोटी पंक्तियाँ, जैसे- "I am broken but still shining" या "दिल तो है मेरा, पर समझ नहीं आता" तेज़ी से भावनात्मक जुड़ाव तो कराती हैं, पर उनकी भाषा और शिल्प की दृष्टि से गहराई सीमित होती है। इसके विपरीत, जयशंकर प्रसाद की कामायनी या निराला की 'सरोज स्मृति' जैसी कृतियाँ अपनी विस्तृत संरचना, गहन प्रतीकात्मकता और भाषाई सौंदर्य के कारण साहित्यिक अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती हैं।

हालांकि, यह भी मानना होगा कि डिजिटल कविता ने कविता के दायरे को व्यापक बनाया है और उसे युवा वर्ग के बीच पुनः लोकप्रिय बनाया है, जो परंपरागत कविता की जटिलताओं से दूर रहता था। यह एक नई सांस्कृतिक आवश्यकता का परिणाम भी है, जिसमें त्वरित अभिव्यक्ति और तत्काल सामाजिक संवाद को महत्व दिया जाता है। अतः, समालोचना में दोनों रूपों के गुण-दोष के बावजूद, यह स्पष्ट है कि डिजिटल कविता और परंपरागत कविता अपने-अपने संदर्भों और आवश्यकताओं के अनुसार महत्वपूर्ण हैं।

परंपरागत कविता में गहन चिंतन, प्रतीकात्मकता, आलंकारिकता और शास्त्रीयता का समावेश अधिक होता है। इसमें समय लिया जाता है कि लिखने, संपादित करने और छपने की प्रक्रिया लंबी होती है। इसके विपरीत, डिजिटल कविता अधिक तात्कालिक होती है। यह समय की गति के साथ चलती है और विचारों को तुरंत अभिव्यक्त करने का माध्यम बनती है। उदाहरणस्वरूप, इंस्टाग्राम या फेसबुक जैसे मंचों पर कविताएँ कुछ ही मिनटों में हज़ारों पाठकों तक पहुँच जाती हैं और प्रतिक्रियाएँ भी तुरंत प्राप्त होती हैं।

डिजिटल कविता की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह मल्टीमीडिया का प्रयोग करती है। इसमें केवल शब्द ही नहीं, बल्कि चित्र, ध्वनि, संगीत, गति और प्रभावों का भी समावेश होता है। इससे कविता का अनुभव बहुआयामी बन जाता है। परंपरागत कविता मुख्यतः शब्द आधारित होती है, जहाँ पाठक कल्पना के माध्यम से अर्थ और भाव को आत्मसात करता है। डिजिटल कविता में यह प्रक्रिया दृश्य और श्रव्य माध्यमों के सहयोग से और भी सजीव हो जाती है।

डिजिटल माध्यमों ने नए और युवा कवियों को मंच प्रदान किया है, जिनके पास पहले प्रकाशन के सीमित अवसर होते थे। अब कोई भी कवि अपनी रचनाएँ स्वतंत्र रूप से साझा कर सकता है, जिससे कविताई का दायरा व्यापक हो गया है। हालांकि, इसके साथ कुछ चुनौतियाँ भी आई हैं, जैसे- गुणवत्ता में गिरावट, भाषा की शुद्धता की अनदेखी और सतही लोकप्रियता की होड़। परंपरागत कवि,ता में गुणवत्ता, साहित्यिकता और परिष्कृत अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाता है। साथ ही, डिजिटल कविता ने पाठक की भूमिका को भी बदला है। पहले पाठक केवल रचनाओं को पढ़ता था और आत्मसात करता था, अब वह टिप्पणी साझा करने और प्रतिक्रिया देने के माध्यम से सक्रिय भागीदार बन गया है। इससे साहित्यिक संवाद को नया रूप मिला है। भाषा के प्रयोग में भी दोनों माध्यमों में अंतर स्पष्ट है। परंपरागत कविता में शुद्ध भाषा और व्याकरणिक अनुशासन अपेक्षित होता है, जबकि डिजिटल कविता में हिंग्लिश, स्लैंग, इमोजी और संक्षिप्त रूपों का अधिक प्रयोग होता है। यह नए समय की संप्रेषण शैली को दर्शाता है।

इस प्रकार देखा जाए तो डिजिटल कविता और परंपरागत कविता दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। दोनों एक-दूसरे की विरोधी नहीं, बल्कि पूरक रूप में साहित्य को एक नए आयाम की ओर ले जा रही हैं। डिजिटल कविता और परंपरागत कविता दोनों के अपने-अपने महत्व हैं। जहाँ परंपरागत कविता गहनता और स्थायित्व की प्रतीक है, वहीं डिजिटल कविता नवाचार और तात्कालिकता की वाहक

है। दोनों विधाएँ एक-दूसरे की पूरक हो सकती हैं, न कि विरोधी। डिजिटल युग में कविता का यह रूपांतरण साहित्य के विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसलिए कहा जा सकता है कि दोनों ही रूप परंपरागत और डिजिटल कविता साहित्यों को समृद्ध करने वाले महत्वपूर्ण स्तंभ हैं। एक गहराई प्रदान करती है तो दूसरी विस्तार। भविष्य का साहित्य इन्हीं दोनों के संतुलन से आकार लेगा।

सन्दर्भ-सूची

1 डॉ.सीमा त्रिपाठी,"हिंदी साहित्य और डिजिटल युग", वाणी प्रकाशन, 2020, पृष्ठ संख्या-45

2 डॉ. रामनारायण शर्मा,"भारतीय काव्यशास्त्र और कविता", राजकमल प्रकाशन, 1998, पृष्ठ संख्या-112

3 डॉ. अश्विनी कुमार मिश्रा,"ई-कविता और नई अभिव्यक्ति विधाएँ", किताबमहल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-76, 2021

4 डॉ. नीता रघुवंशी,"डिजिटल युग में साहित्य", डायमण्ड बुक्स, पृष्ठ संख्या. 39, 2019

◆सहायक आचार्य , हिन्दी विभाग

स्नातकोत्तर राजकीय कन्या महाविद्यालय,

सेक्टर-11, चण्डीगढ़

ई.मेल- sangamve@gmail.com

फोन: 9463603737

'दौड़': वैश्वीकरण की लहर में बदलती सामाजिक संरचना,मूल्य तथा संवेदनाएँ



◆डॉ. अन्सा ए

शोधसार: वैश्वीकरण ने पूरे विश्व को विश्व ग्राम में बदल दिया है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो हर देश की भौगोलिक सीमाओं को लाँघकर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक स्थितियों और मूल्यों में अकल्पनीय परिवर्तन लाया है। आज हमारी भाषा, संस्कृति, परंपरा तथा पहचान को फालतू एवं महत्वहीन बनाकर उपभोक्तावाद, बाज़ारीकरण, उदारीकरण, विज्ञापनबाजी संस्कार, आजीविकावाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, नव उपनिवेशवाद, प्रौद्योगिकी आदि ने हमारे तमाम जीवंत मानव मूल्यों को निरर्थक एवं बेबुनियाद स्थापित कर दिया है। वैश्वीकरण की इन उलझी हुई स्थितिगतियों की अभिव्यक्ति ममता कालिया जी के 'दौड़' उपन्यास में परिलक्षित है। प्रस्तुत उपन्यास के परिवेश, कथा, पात्र तथा उनकी मानसिकता सब वैश्विक संस्कृति के सूचक हैं। इसमें शहरी जीवन संस्कृति, औद्योगीकरण से उत्पन्न यांत्रिकता व निर्लिप्त जीवन-मूल्यों का प्रभाव साफ दर्शनीय है। यह तत्कालीन समय को प्रतिनिधित्व करता है।

बीज शब्द: उपभोक्तावादी संस्कृति, बाजारवादी संस्कृति, आजीविकावाद, यांत्रिक सभ्यता, विज्ञापनवादी संस्कृति, प्रौद्योगिकी, निर्लिप्तमूल्य, बदलते मानवीय संबंध, जटिल मानसिकता।

मूल आलेख:

वैश्वीकरण से उपजी औद्योगिक उपभोक्तावादी संस्कृति के परिणामस्वरूप बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने हर कहीं अपनी जगह जमा ली है। इन्होंने नव युवकों को रोज़गार के लोभ जगाकर इन्हें आकृष्ट कराने के लिए व्यापार प्रबंधन पढ़ाने वाली कई शिक्षा संस्थाएँ खोल दी गई हैं। वैश्वीकरण ने विश्व भर को बाज़ार बनाकर दुनिया भर के मानव को उपभोक्ता या ग्राहक में बदल दिया है। यह आदमी को स्वार्थी व लालची भी बना दिया है। डॉ. रेखा सेठी के अनुसार-"भारत अब भूमंडलीकरण के कारण अंतर्राष्ट्रीय अर्थतंत्र का एक उभरता हुआ मालगोदाम और विशाल उपभोक्ता बाज़ार बन गया है।"[1] इस तरह कहें तो उपभोक्तावाद वैश्वीकरण का पहला हथकंडा है।

आज ऐसी उपभोक्तावादी औद्योगिक संस्कृति पनप गई है जो चीज़ों की मार्केटिंग करती है। यह आर्थिक प्रक्रिया को बढ़ावा देती है। यह मानव को घर, परिवार व समाज से विलग करके अकेला रह देता है।

कारणवश संबंधों का बिखराव बढ़ गया तथा आदमी आज सिर्फ बेचने वाला, खरीदने वाला तक परिसीमित रह गया। प्रस्तुत उपन्यास के केंद्र पात्र एम बी ए उपाधि प्राप्त पवन और उसके दोस्त इस उपभोक्तावादी संस्कार को आगे बढ़ाने वाले हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने रोज़गार के नए अवसर प्रदान करके पवन और उसके दोस्त को नैतिकता के विरुद्ध खड़ा करके एक के बाद दूसरी कंपनी तबदील करने की उत्प्रेरण देती है।

पवन एल पी जी यूनिट में प्रशिक्षु सहायक मैनेजर के पद अलंकृत करने के बावजूद भी अपनी नौकरी से अतृप्त है। वह तरक्की के मोह में इससे अधिक तनख्वाह मिलने वाली कंपनी में नौकरी पाने के लिए लालायित व संघर्षरत है। जिस कंपनी ने पवन को उद्योग-धंधा सिखाकर कामयाब बनाया उस कंपनी को त्यजकर दूसरी कंपनी में चले जाने के लिए व्यग्र पवन की हरकत पर पिता सवाल उठाते हैं तो वह कहता है- "मैं जिस दुनिया में हूँ वहाँ एथिक्स नहीं प्रोफशनल एथिक्स की ज़रूरत है।"[2] अपनी कैरियर की पदोन्नति व आजीविका के लिए वह मूल्यों को ही नहीं, खून के रिश्तों को भी दूर फेंकने के लिए तैयार है।

पवन और उसका दोस्त उस युवा पीढ़ी के प्रतिनिधित्व करते हैं जो आजीविका के लिए किसी भी अन्याय व हरकत करने के लिए कोई संकोच न महसूस करते। यह मनोवृत्ति उन्हें उपभोक्ता संस्कृति ने सिखाया है। उनके अनुसार उपभोक्ता संस्कार से वे पूर्णतः काबिल व सफल होंगे। पवन का कथन है कि- "मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा।[3] अपने लक्ष्य व हैसियत के लिए संघर्षरत पवन की उपभोक्तावादी नज़रिए ने निर्लिप्त मूल्य, पारिवारिकता तथा आदमी की मान-मर्यादाओं को तोड़ा है। वह ऐसी औद्योगिक संस्कृति में खड़ा है जहाँ प्यार, ममता एवं पारिवारिक संबंध सब व्यर्थ व बिकाऊ मात्र हैं।

शहरीकरण और औद्योगीकरण से उत्पन्न यंत्रीकरण ने वैश्वीकरण को बढ़ावा दिया है। यह जीवन को व्यस्त, संघर्ष भरा, अकेलापन से ग्रसित, तनावग्रस्त, स्वार्थलिप्त, संवेदनहीन, संबंध शून्य, जटिल और संबंधों में दरार आदि प्रदान करते हैं। शहरी माहौल की पसंदीदा पवन अपना देश इलाहाबाद त्यागकर व्यावसायिक नगर अहम्मदाबाद में अपना कैरियर बनाता है। जब भी उसे अपना भवन आना पड़ता है तो वहाँ का सब कुछ उसे घृणित, फालतू व स्थानीय लगता है। क्योंकि उसके इर्द-गिर्द शहरी कोलाहल, आपाधापी व मशीनी संस्कार वगैरह न के बराबर हैं। इस तरह शहरी जीवन के अंधानुकरण के कारण वह शनैः-शनैः अपने घर से विलग हो जाता है। शहरीकरण की होड में फँसते नव युवक किस हद तक ममताहीन, अनैतिक व संकटग्रस्त बन जाता है इसकी ओर भी उपन्यास इशारा करता है।

बाज़ार की प्रक्रिया में कैरियर या आजीविका की प्राथमिकता बहुत है। पवन के लिए शादी पारिवारिक सुख-दुख का साधन नहीं अपितु आजीविका की मदद देने वाला एक औज़ार मात्र है। इसलिए वह कंप्युटर में पारंगत स्टैला को अपनी संगिनी बनाता है। ये पति-पत्नी के लिए दांपत्य से अधिक अपनी-अपनी आमदनी व कैरियर की प्रमुखता रही है। यहाँ ध्यातव्य है कि बाज़ार की ज़रूरतों के आगे व्यक्ति व व्यक्ति संबंध महत्वहीन व निरर्थक है। उपन्यास में एक ओर पवन-स्टैला जैसे पति-पत्नी है तो दूसरी ओर अभिषेक-राजुल जैसी दंपति भी हैं। राजुल को बच्चे के लिए अपना कैरियर की उपेक्षा करनी पड़ी, यह दुख-दर्द उसे हमेशा सताती है। उसकी राय में- "डबल इनकम नो किड्स।" [4] एक ऐसे ज़माने में हम जी रहे थे जहाँ बच्चे ईश्वर का वरदान मानते थे, अपितु आज संतानोत्पत्ति एक आवश्यकता मात्र तक परिसीमित रह गयी है। मानना है कि एक से अधिक संतान कैरियर के लिए बाधा उपस्थित करेगी। इस तरह बाज़ारू संस्कार तथा आजीविकावाद ने वर्तमान मानव की मानसिकता में भारी परिवर्तन, निर्ममता, संबंध शून्यता भरकर उसे निर्वैयक्तिकता की ओर घसीट लिया है।

विज्ञापन बाज़ारवाद का दूसरा महत्वपूर्ण औज़ार है। यह क्रय-विक्रय में बढ़ावा देता है। ये आज जनता की रुचि- अरुचियों को तय करने लगे हैं। उपभोक्ता इसके प्रभाव में पड़कर इसकी अर्थवत्ता को बिना देखे इसके छल-प्रपंच का बड़ी ही आसानी से शिकार हो जाता है। यह मानव को आकृष्ट करके बेवकूफ भी बनाता है। उपभोक्ता संस्कार से उत्पन्न

विज्ञापन के इस खोखलेपन का चित्रण लेखिका ने बेहद प्रभावी ढंग से उक्त उपन्यास में चित्रित किया है। अभिषेक तथा उसकी पत्नी की आपसी बातचीत विज्ञापन के नकलीपन का खुलासा करने वाली है। अभिषेक का कथन विज्ञापन के खोखलेपन व अनैतिकता को व्यक्त करता है- "हमें सच्चाई नहीं, प्रोडक्ट बेचनी है।"5 यहाँ विज्ञापन की हतप्रभ भरी दुनिया की दिखावा या ढोंग साफ प्रकट हुआ है।

प्रौद्योगिक क्रांति वैश्वीकरण की सबसे बड़ी ताकत है जो आक्रमणकारी के रूप में छिपकर अपना क्रिया-कलाप करती है। इसने आदमी को मशीनी बना दिया है। आजीविका के चक्कर में पड़कर वह चलता-फिरता है और उसके मन में तनिक भी संवेदना नहीं। मानव का आपसी संबंध अब सिर्फ ई-मेल, इंटरनेट तथा सैटलाइट में सिमट गया। उपर्युक्त उपन्यास के पात्र पवन, स्टैला, सघन आदि अपने परिवारवालों से ऐसे संबंध रखते हैं तथा ऐसे आपसी संबंध रखना उचित ही समझते हैं। यहाँ तक कि पवन व स्टैला की शादी इंटरनेट द्वारा निश्चय कर लेता है, विवाह का संकेत फॉन व ई-मेल के ज़रिए माँ-बाप को सूचित करता है औरविवाह का सारा प्रबंधन भी यहीं पर होता है। सघन का सारा वक्त इंटरनेट व कंप्यूटर के सामने बिताना, कंप्यूटर में माहिर स्टैला पवन की माँ की सारी सर्जनाओं को फ्लॉपी डिस्क में भरकर देना, स्टैला-पवन का दाम्पत्य सैटलाइट व कंप्युटर के माध्यम से बिताना इत्यादि कई संदर्भ प्रस्तुत उपन्यास में उभर आए हैं जो मानव व उसके दिमाग के ऊपर अपनी ताकत जमाने वाली प्रौद्योगिकी की चालाकी को रेखांकित करते हैं।

उपभोक्तावादी संस्कृति में पले आज के नव युवक में जड़ मानसिकता व मूल्यहीनता बढ़ती जा रही हैं। प्रस्तुत उपन्यास के पवन, सघन, स्टैला, सिद्धार्थ, अभिषेक, राजुल जैसे पात्र के चरित्र तथा उनकी मानसिकता इसके अनुरूप हैं। आजीविकावादी पवन के पारिवारिक संबंध व दांपत्य संबंध में शिथिलता छाई हुई है। इसका कारण पवन का पाश्चात्य दृष्टिकोण है। व्यापारिक मनोभाव में पलने वाले पवन माँ-बाप के प्यार का ऋण पैसा देकर चुकाना चाहता है। वह कहता है- "माँ हमारे आने से आपका बहुत खर्च हुआ है, यह मैं आपको पहली किस्त दे रहा हूँ। वेतन मिलने पर और दूँगा।"6 यहाँ पवन की संबंधहीनता व जटिल पारिवारिक संबंध का नमूना मिलता है। उपन्यास में लेखिका ने अपने पिता की मृत्यु पर फॉन पर शोक प्रकट करके उनके अंतिम क्रिया-कर्म में भाग लेने के लिए अवकाश न निकालने वाले हृदयहीन बेटे की छवि भी उभारी है। यहाँ उपन्यासकार ने पुरानी मान्यताओं, मर्यादाओं, नैतिकताओं और आदर्शों को नकारकर उसे बेबुनियाद व निरर्थक माननेवाले उपभोक्तावादी अर्थ केंद्रित नव पीढ़ी का चित्रण करके दूसरी ओर अपनी संतानों के प्यार व आदर- सत्कार के लिए लालायित आकुल-असुरक्षित माँ-बाप की हृदय-विदारक छवि को अनावृत्त किया है।

निष्कर्ष:

सारांशतः उपन्यासकार ममता कालिया जी ने वैश्वीकरण व उसकी छाया में पले औद्योगिक उपभोक्तावादी संस्कृति के फंदे में फँसकर अपनी अनुभूतियों को त्यागकर आजीविका के लिए भागदौड़ करने वाले नव मानव, उसकी बदलती मानसिकता व उसके बिगड़ते पारिवारिक संबंधों को जोड़कर 'दौड़' उपन्यास का ताना-बाना बुना है। समूचा उपन्यास इस बात का गवाही देता है कि वैश्वीकरण से उपजी नवीन संस्कृतियाँ किस हद तक मानव की सहज मनोवृत्तियों, आचरणों, निष्ठाओं, मूल्यों, मान्यताओं एवं संस्कृतियों पर हमला कर उसे तहस-नहस कर दिया है। मानव मन में जहाँ पहले प्रेम, ममता, त्याग, सेवा, सहानुभूति जैसे मूल्य निहित थे, उसके स्थान पर आज संवेदन शून्यता, संबंधहीनता, अमानवीयता, अपराधीकरण तथा अवसरवादिता आदि ने अपना घर बस लिया है। इस तरह बाज़ार जन्य मानसिकता ने मानव की निजी संवेदना को धीरे-धीरे खत्म कर के उसे आत्मकेंद्रित बनाकर वैयक्तिक सुख लोलुपता की मज़ा लूटने तथा अधिक से अधिक पैसा कमाने की होड़ की ओर ले जाते दिखाई देती है। विदित है कि प्रस्तुत उपन्यास इन सभी आयामों का संवहन करता है। खुद ममता कालिया जी का वक्तव्य अत्यंत श्लाघनीय है कि-" 'दौड़' आज के उस मनुष्य की कहानी है, जो बाज़ार के दबाव, उनके परोक्ष-अपरोक्ष मारक तनाव, आक्रमण और निर्ममता तथा अंधी दौड़ में नष्ट

होते मनुष्य के आसन्न खतरे में पड़े मनुष्यत्व को उजागर करता है। यह रचना मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों की परंपरा और वर्तमान की जटिलताओं के मध्य विकराल अंतराल की सूक्ष्म पड़ताल करती है।"[7] स्पष्टतः यह ममता कालिया जी का रचना-कौशल है कि उन्होंने इस लघु उपन्यास के ज़रिए वैश्विक संस्कृति व उसके घातक परिणामों को एक साथ पिरोकर हमारे सम्मुख पेश किया है। यह हमें इन गंभीर व गहन विचारों पर सोचने-विचारने के लिए बाध्य करता है।

संदर्भ संकेत

1. व्यक्ति और व्यवस्था– डॉ.रेखा सेठी, प्र.-हिन्दी बुक सेंटर, पृ.सं.119
2. ममता कालिया, दौड़-पृ.सं. 72
3. वही, पृ.सं. 44
4. वही, पृ.सं.30
5. वही, पृ.सं.38
6. वही, पृ.सं.74
7. वही- दौड़, आवरण पृष्ठ से उद्धृत

आधार ग्रंथः

ममता कालिया- दौड़, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000

◆सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
सरकारी वनिता कॉलेज
तिरुवनंतपुरम-14, केरल
मो.9995083552
ई.मेल:anzaali2012@gmail.com

मलयालम भाषा का उद्भव और विकास



◆डॉ. राजीव आर

शोध - सार : मलयालम भाषा का बहुत पुराना इतिहास है। दक्षिण भारत में व्याप्त मूल द्राविड़ भाषा से इसका विकास हुआ। इसके विविध परिणामों के फलस्वरूप तेलुगु, कन्नड़, तमिल और मलयालम भाषा का विकास हुआ। मलयालम पर तमिल का प्रभाव था। मलयालम भाषा के उद्भव और विकास संबंधी अध्ययन इस लेख का उद्देश्य है।

बीज शब्द: भाषा, इतिहास, उद्भव शिलालेख, शताब्दी।

केरल का शताब्दियों पुराना इतिहास है। 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों में भी केरल का उल्लेख है। ईसा पूर्व चौथी शती में 'अलक्षेन्द्र' (Alexander the Great) का राजदूत 'सेल्यूकस' भारत आया। उन्होंने भी केरल और यहाँ के शासकों के बारे में परामर्श किया है। सम्राट अशोक के शिलालेखों में भी केरल का उल्लेख है। केरल के शासकों में 'चेर' राजाओं का प्रमुख स्थान है। 'पतिट्टुप्पत्तु', 'चिलप्पतिकारम', 'मणिमेखला' जैसे प्राचीन 'चेन्तमिल', 'मणिमेखला' कृतियों में भी 'चेरा' शासन काल वर्णित है।[1]

केरल को प्राचीन काल से ही मिस्र, अरब, चीन, बाबिलोन, रोम जैसे देशों से व्यापारिक संबंध था। केरल के देहातों में शासन की सुविधा के लिए सशक्त ग्रामीण भाषाएँ ज़ारी था। इसे 'नाट्टुकूट्टम' कहा गया। 'चेर' राजाओं के शासन के पूर्व यहाँ प्रजातंत्र के आधार पर जो शासन व्यवस्था थी, वह शताब्दियों तक स्थायी रहा। शासन पर नंपूतिरि और नागा वर्ग के प्रभु वर्गों का प्रभाव था। उन ग्रामीण संगठनों के अंदर 'कष़कम', कूट्टम्, देशम् जैसे अवांतर शासकीय संगठन भी थे। ऐसी शासन व्यवस्था कुछ काल तक ज़ारी रहा।

केरल में कुछ समय तक पांड्य राजवंश के प्रतिपुरुषों द्वारा शासन चलाया गया। ईसा पूर्व 11 वीं शताब्दी में राजेन्द्र चोलन नामक 'चोल' राजा ने तत्कालीन पेरुमाल राजा भास्कर रविवर्मा को पराजित किया। इस तरह पेरुमाल शासन समाप्त हुआ। "राजाओं और प्रभुओं की अधीनता में 'कोलत्तुनाटु', 'कोङ्ङी', 'ओटनाडु' और 'वेनाटु' जैसे

प्रांतीय शासन स्थापित हुए।"[2] राजाओं के बीच आपसी स्पर्धा भी रही।

सन 1498 में पुर्तगाली नाविक वास्कोडि गमा के आगमन के साथ केरल और विदेशी देशों के साथ वाणिज्य रिश्ता स्थापित हुआ। तदनंतर 'केरल' और 'डच' देश से भी व्यापारिक एवं प्रशासनिक रिश्ता भी हुआ। ऐसा केरल मुख्य तीन प्रांतों के रूप में विभाजित हुआ - दक्षिण में 'वेनाडु' (तिरुवितांकूर), उत्तर में कोषिक्कोड और मध्य में कोच्ची थे।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद 1949 में तिरुवितांकूर - कोच्ची संयोजन हुआ। भारत के राज्य पुनः संगठन के आधार पर नवंबर 1, 1956 में केरल राज्य स्थापित हुआ। तब केरल के पंचानबे प्रतिशत लोगों की मातृभाषा मलयालम थी। राजाओं के शासन काल से ही केरल में एक सांस्कृतिक एकता का भाव था। यह केरल के दक्षिण और उत्तर प्रांतो में लगभग समान रूप से था। तत्कालीन केरल के ओणम, विषु, तिरुवातिरा जैसे देशीय त्योहार सब लोग मिल-जुलकर मनाते थे। इस तरह केरल में कला और साहित्य की वृद्धि हुई।

1. मलयालम भाषा की उत्पत्ति

केरल की भाषा को 'मलयालम' नाम प्राप्त हुए, दीर्घ काल न हुए हैं। मलयालम पहले देश के नाम का सूचक पद था। पहाड़ से सटे हुए 'अलम' अर्थात् देश के रूप में इसका उद्भव हुआ। इसके साथ 'मलयालम', 'मलयाण्मा' जैसे पद भी प्रचलित थे। अब देश का नाम 'मलयालम' ही भाषा नाम के रूप में प्रयुक्त होता है।

'मलयालम' द्राविड़ परिवार की भाषा है। लेकिन मलयालय का अन्य द्राविड़ परिवार की भाषाओं से विशेषतः तमिल से किस प्रकार गहरा रिश्ता हुआ, इसके बारे में मतभेद हैं। कुछ विद्वान मलयालम को तमिल की एक शाखा मात्र मानते हैं। पादरी कॉल्डवेल के इस मत को ए. आर. राजराजवर्मा ने अपने ग्रंथ 'केरल पाणिनीयम' में खूब समर्थन किया।

मलयालम और तमिल का दीर्घकाल से अगाध संपर्क है। दोनों भाषाओं के व्याकरणिक नियम ओर पद समूह में समानता है। अतः मलयालम को ही तमिल के रूप में व्यवहार मैं लाया गया। लेकिन अब यह वाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण से खरा नहीं उतरता।

2.मलयालम ओर तमिल

मलयालम और तमिल के बीच इतनी गाढ़ रिश्ता होने के क्या कारण है? इसका दो पहलू है। एक तो भाषाओं के परिणाम से संबंधित है। इसके आधार पर देखें तो दोनों भाषाएँ एक ही गोत्र की सहोदर भाषाएँ हैं। द्रविड़ भाषाओं में तमिल और मलयालम के साथ कन्नड और तेलुगु के बीच भी व्याकरणिक नियम और पद संहिता के आधार पर गहरा रिश्ता है। 1944 में मदिराशी विश्वविद्यालय (चेन्नै) द्वारा प्रकाशित कोराडा रामकृष्णय्या रचित 'द्रविड़ सगोत्रा शब्द समुच्चय' (Dravidian Cognates) नामक ग्रंथ में तमिल, मलयालम, कन्नड, तेलुगु और तुलु भाषा में सामान्यतः प्रचलित पाँच हज़ार पद खोज निकाले हैं। इससे कहा जा सकता है कि किसी मूल भाषा से इन सब का उद्भव हुआ।

एक ज़माने में दक्षिण भारत में मौजूद एक मूल द्रविड़ भाषा को भौगोलिक विशेषता, सामाजिक परिस्थिति, आदि के फलस्वरूप कई परिणाम हुए। इन परिणामों से ही मुख्य भाषाओं, जैसे- तेलुगु, कन्नड, तमिल और मलयालम तथा गौण भाषाओं- 'कुडक' और 'तुलु' की उत्पत्ति हुई। इसके संबंध में भाषाविदों के बीच बड़ा तर्क - वितर्क नहीं। यहाँ के पश्चिमी पहाड़ी इलाकों की मुख्य भाषा के रूप में तमिल और मलयालम स्वतंत्र रूप से पनपने लगे। तदनंतर 'चोल' और 'पांड्य' देशों और केरल के बीच शासनपरक रिश्ता बढ़ गया। अतः तमिल का प्रभाव मलयालम भाषा में अधिकाधिक रूप से ज़ारी रहा।

शताब्दियों से यहाँ के राजशासन, दस्तावेज़ तथा

मुकदमेबाजी भी 'चेन्तमिल' भाषा में थीं। लेकिन लोगों की व्यावहारिक भाषा 'मलनाटु' भाषा थी। पहले से ही 'चेन्तमिल' के प्रभाव और हावी से हटने की प्रवृत्ति केरल की भाषा को प्राप्त थी।

3.क्षेत्रीय भेद एवं उपभाषाएँ

मलयालम भाषा में भी प्राचीन काल से क्षेत्रीय भेद थे। मुख्य रूप से यह भेद 'तेक्कन'और 'वटक्कन', अर्थात् दक्षिण और उत्तर केरल से संबंधित था। इसकी सीमा का विभाजन इस प्रकार कर सकता है - दक्षिण तिरुवितांकूर, उत्तर तिरुवितांकूर, कोच्ची, दक्षिण मलबार और उत्तर मलबार। केरल के नंपूतिरि, क्षत्रिय और नायर जैसे उच्च जातिवाले लोग उच्च शैक्षिक वर्ग के थे। 'परयर', 'पुलयर' जैसे समुदाय श्रमिक वर्ग के थे। 'काणी', वेडर, मलनकुरवर जैसे वनवासी लोग मलयालम भाषा के प्राकृत रूप बोलते थे।

मलयालम लिपि - मलयालम भाषा की अब अपनी लिपि होती है। पहले मलयालम भाषा की अक्षरमाला 'वट्टेषुत्तु' कहा गया। 'वट्टेषुत्तु' चेर, पांड्य काल में प्रचलित थी। पंद्रहवीं शताब्दी में यह लिपि लुप्त होने लगा। अठारहवीं शताब्दी तक लिखे गए दस्तावेज़, लेखन और शिलालेखों की अक्षरमाला 'वट्टेषुत्तु' था। उस समय कक्षा-अध्ययन में मलयालम लिपि और तमिल लिपि के साथ 'वट्टेषुत्तु' भी सिखाती थी।

'वट्टेषुत्तु' से 'कोलेषुत्तु' लिपि का उद्भव हुआ। 'कोल' (ताड के पत्ते) से लिखने के कारण ही लिपि को ऐसा नाम प्राप्त हुआ।[3] कोलेषुत्तु में 'संवृतोकार', 'एकारम', 'ओकारम' जैसे अलग-अलग लिपि चिह्न हैं। यह लिपि संप्रदाय कोच्ची और मलबार में अधिक प्रचलित था। 'वट्टेषुत्तु' से थोड़े- से अंतर में एक और लिपि भी विकसित हुई। इस रूपांतरित लिपि का नाम है 'मलयाण्मा लिपि'। इसका प्रचार तिरुवनंतपुरम के दक्षिण भाग तक सीमित था।

उपर्युक्त तीनों लिपियाँ होते हुए भी पढ़ाई उतना आसान न थी। इन तीनों की तुलना में 'वट्टेषुत्तु' कुछ आसान थी। यह लिपि उत्तर-दक्षिण सभी प्रांतों में प्रचलित थी। लेकिन इस लिपि में 'ए' और 'ओ' स्वर न थे। कोलेषुत्तु में क्षेत्रीय अंतर ज़्यादा था। 'मलयालम' लिपि में उसके पदों के संकीर्ण रूप और तमिल पदों के कारण पढ़ाई आसान न थी। कालक्रम में इन तीनों लिपियों का तिरोधान होकर आज की मलयालम लिपि का आधार 'ग्रंथ लिपि' विकसित हुई।

'ग्रंथाक्षर' ईसा पूर्व सातवें शतक से दक्षिण भारत में प्रचलित थी। मलयालम में 'मलयालम साहित्य के आविर्भाव से इस लिपि का प्राचुर्य हुआ। इस तरह ईसा पूर्व नौवीं शताब्दी से एक व्यवस्थित लिपि संप्रदाय, स्थापित हुआ। बाद में यह लिपि 'आर्या एषुत्तु' नाम से आज की मलयालम लिपि के रूप में परिणत हुई।

आज मलयालम भाषा की लिपि-व्यवस्था इस प्रकार है-

स्वराक्षर - അ, ആ, ഇ, ഈ, ഉ, ഊ, ഋ, ഌ, ൠ, ഐ, ഒ, ഓ, ഔ, അം, അഃ

व्यंजनाक्षर – ക, ഖ, ഗ, ഘ, ങ

ച, ഛ, ജ, ഝ, ഞ

ട, ഠ, ഡ, ഢ, ണ

ത, ഥ, ദ, ധ, ന

പ, ഫ, ബ, ഭ, മ

യ,ര, ല, വ, ശ, ഷ, സ,ഹ, ള, ഴ,റ

भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल 22 भाषाओं में एक है मलयालम।

सहायक ग्रंथः

1. आधुनिक मलयालमं साहित्यं - पी.के.परमेश्वरन नायर, नाशनल बुक स्टाल, 1968

2. मलयालम भाषयुम् साहित्यवुम् - आट्टूर कृष्णप्पिषारडी। केरल बुक स्टोर, 1967

संदर्भ

1. मलयालम साहित्य चरित्रम् - पी. के. परमेश्वरन नायर, पृ. 1
2. वही, पृ. 2
3. वही, पृ. 3

यूनिवर्सिटी कॉलेज
तिरुवनंतपुरम - 695 034
फोन - 8606393604
ई मेल - drrajeevr1971@gmail.com

◆सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग



सूर साहित्य में कृष्ण की बाल लीला : चिंतन एवं दृष्टि

◆डॉ. रवि कुमार गोंड़

महाकवि सूरदास का 'अष्टछाप' के कवियों में प्रमुख स्थान माना जाता है। उन्हें वात्सल्य रस का सरताज कहा जाता है। उन्होंने कई ग्रंथों, जैसे-सूरसागर, सूर सरावली, साहित्य लहरी, गोवर्धन लीला, नाग लीला, भ्रमर गीत, सूरपच्चीसी, नल दमयंती, ब्याहलो आदि का सृजन किया है। इन सभी ग्रंथों में सूरदास ने सामाजिक नैतिक प्रेम, आपसी समझ, अध्यात्म दर्शन, मानवीय संवेदना तथा प्रकृति और जीवन पर सूक्ष्म विचार-विमर्श किया है। पुष्टिमार्ग के जहाज़ पर सवार होकर सूरदास ने कृष्ण लीला के माध्यम से संसार को जीवन-दर्शन का पाठ पढ़ाया। उन्होंने बतलाया कि सात्विक प्रेम कभी कालकवलित नहीं होता, बल्कि वह युगों-युगों तक लोगों के हृदय में जीवित रहता है। सूरदास ने 'सूरसागर' में रासलीला का अद्भुत वर्णन किया है, जिसमें कृष्ण और गोपियों के महारास के साथ ही बाल लीलाओं का मनमोहरी वर्णन मिलता है। सूरदास ने रासलीला के अंतर्गत भगवान कृष्ण और गोपियों के मध्य लौकिक एवं पारलौकिक प्रेम-संबंधों को सात्त्विक रूप में दर्शाया है। महारास की लोक नृत्य परंपरा को ही बहुत से विद्वान रासलीला मानते हैं। कृष्ण की बाल लीला में माखन चोरी, वस्त्र हरण तथा मटकी फोड़ने आदि लीलाएँ भी शामिल हैं। रासलीला दो शब्द-रस और लीला- मिलकर बना है, रस अर्थात् आनंद, प्रेम आदि और लीला का अर्थ है खेल, नृत्य। हम यह कह सकते हैं कि प्रेम और आनंद का मिलन ही रासलीला है जिसमें नृत्य, संगीत, अध्यात्म दर्शन एवं मानवतावाद सम्मिलित हैं। जन्माष्टमी के दिन संपूर्ण भारत में कृष्ण की 'बाल लीला' का मंचन किया जाता है, जिसमें दधि-माखन चोरी, नृत्य, भक्ति, नटखटपन आदि को दिखाया जाता है।

सूरदास ने कृष्ण की लीलाओं का अद्भुत एवं आश्चर्यजनक वर्णन किया है। आँख न होते हुए भी मन की खुली आँखों से जिस प्रकार से सूरदास ने कृष्ण की बाल लीलाओं का सूक्ष्म चित्रण किया है, वह अकल्पनीय है। उन्होंने चतुरता, चंचलता तथा बाल मनोविज्ञान आदि के माध्यम से जीवन के कई रंगों को वास्तविक धरातल पर लाने का कार्य किया है। कृष्ण जन्मोत्सव लीला का वर्णन करते हुए सूरदास लिखते हैं कि-

"उठीं सखी सब मंगल गाइ।
जागु जसोदा, तेरैं बालक उपज्यो, कुँअर कन्हाइ।।
जो तू रच्या-सच्यो या दिन कौं, सो सब देहि मँगाइ।
देहि दान बंदीजन गुनि-गन, ब्रज-बासिनि पहिराइ ।।
तब हँसि कहत जसोदा ऐसैं, महरहिं लेहु बुलाइ।
प्रगट भयौ पूरब तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ ॥
आए नंद हँसत तिहिं औसर, आनंद उर न समाइ।
सूरदास ब्रजबासी हरषे, गनत राजा-राइ।।" (पृष्ठ 9)

सूरदास ने कृष्ण की बाल लीला में राजा और कंगाल सभी को एकमेक दिखाया है ताकि समाज एकता में बंधा रहे। कृष्ण रस के आनंद में समूचा गोकुल

भावविभोर हो गया था। कृष्ण के बालरूप को देखकर सब अत्यंत आनंदित हो गए थे। गोपियाँ तथा गोकुल की सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पतियों का नाम लेते हुए गारी गा रही थीं। सभी भाव विह्वल होकर नृत्य कर रही थीं। यशोदा के पैर पड़कर उपहार की माँग कर रही थीं। चंदन, टीका, आरती से कृष्ण की बलइयाँ ले रही थीं। सभी अक्षत, दूध, दही आदि से कृष्ण का तिलक कर रही थीं। इस दृश्य की अभिव्यक्त करते हुए सूरदास लिखते हैं कि –

"बहुत नारि सुहाग-सुंदरि और घोष कुमारि।
सजन-प्रीतम-नाम लै-लै, दै परसपर गारि।।
अनँद अतिसै भयौ घर-घर, नृत्य ठाँवहिं ठाँवा ।
नंद-द्वारै भेंट लै-लै उमह्यौ गोकुल गाँव।।
चौक चंदन लीपि कै, धरि आरती संजोइ।
कहति घोष-कुमारि, ऐसौ अनंद जौ नित होइ।।
द्वार सथिया देति स्यामा, सात सींक बनाइ।
नव किसोरी मुदित है-है गहति जसुदा-पाइ।।
करि अलिंगन गोपिका, पहिरै अभूषन-चीर।
गाइ-बच्छ सँवारि ल्याए, भई ग्वारनि भीर।।
मुदित मंगल सहित लीला करें गोपी-ग्वाल।
हरद, अच्छत, दूब, दधि लै, तिलक करें ब्रजबाला।।"
(पृष्ठ 16)

सूरदास ने अपनी लेखनी में कौतूहल का समावेश इस प्रकार से किया है कि मन आनंदित हो जाता है। उन्होंने कृष्ण की बाल लीला का वर्णन करते हुए न केवल नंद और यशोदा के वत्सल प्रेम का चित्रण किया है, बल्कि सामाजिक सौहार्द तथा ब्रजवासी के सद्भाव एवं समन्वय का भी परिचय दिया है । क्या युवक और क्या बालक-वृद्ध सभी मिलकर कृष्ण जन्मोत्सव में नृत्य कर रहे हैं । इस दृश्य का वर्णन करते हुए सूरदास लिखते हैं कि –

"एक-एक न गनत काहूँ, इक खिलावत गाइ।
एक हेरी देहिं, गावहिं, एक भेंटहिं धाइ।।
एक विरथ-किसोर-बालक, एक जोबन जोग।
कृष्ण जन्म सु प्रेम-सागर, क्रीड़ें सब ब्रज-लोग॥
प्रभु मुकुंद कै हेत नूतन होहिं घोष-विलास ।
देखि ब्रज की संपदा कौं, फूलै सूरदास ।।" (पृष्ठ 17)

सूरदास ने कृष्ण की बाल सुलभ रासलीला का बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रण किया है । माखन के लिए बलराम और कृष्ण की लड़ाई तथा यशोदा जी के डाँटने की लीला का सुंदर वर्णन किया है । इस दृश्य को अभिव्यक्त करते हुए सूरदास कहते हैं कि –

"कनक-कटोरा प्रातहीं, दधि घृत सु मिठाई।
खेलत खात गिरावहीं, झगरत दोउ भाई ॥
अरस-परस चुटिया गहैं, बरजति है माई।
महा ढीठ मानैं नहीं, कछु लहुर-बड़ाई ।।
हँसि कै बोली रोहिनी, जसुमति मुसुकाई।
जगन्नाथ धरनीधरहिं, सूरज बलि जाई।।"(पृष्ठ 23-24)

सूरदास ने माता और पुत्र के वात्सल्य का सुंदर दृश्य प्रस्तुत किया है। माता यशोदा कृष्ण के बालरूप को देखकर हर्षित होती हैं । दुलार करते हुए कृष्ण को सुलाने के लिए मनमोहक गीत गाती हैं, लोरी गाती हैं। वहीं कृष्ण जान-बूझकर नाटक करते हुए अपनी आँखें कभी मूँद लेते हैं तो कभी खोलते हैं । सूरदास इस दृश्य का चित्रांकन करते हुए लिखते हैं –

"जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हरावै, जोइ-सोइ कछु गावै ॥
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं, न आनि सुवावै।
तू काहँ नहिं बेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै ।।
कबहुँ पलक हरि मूंदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन है कै रहि, करि-करि सैन बतावै ।।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
eजो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै॥"
(पृष्ठ 27)

सूरदास कृष्ण के बचपन की लीलाओं का विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं । कृष्ण माता यशोदा को अपनी बाल लीला से रिझाते हैं और उन्हें परेशान करते हैं । माता

यशोदा यह सब दृश्य देखकर आनंदित होती हैं और मन ही मन हर्षित होती हैं। सूरदास लिखते हैं –

"चलतत देखि जसुमति सुख पावै।

ठुमुकि-ठुमुकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि दिखावै ॥

देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि-फिरि इत हीं कौं आवे।

गिरि-गिरि परत बनत नहिं नाँघत सुर-मुनि सोच करावै॥

कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर, हरत बिलंब न लावै।

ताकौं लिये नंद की रानी, नाना खेल खिलावै ।।

तब जसुमति कर टेकि स्याम कौ, क्रम-क्रम करि उतरावै।

सूरदास प्रभु देखि-देखि, सुर-नर-मुनि बुद्धि भुलावै॥"

(पृष्ठ 52)

कृष्ण की बाल लीला आश्चर्यचकित कर देने वाली है । सबसे बड़ी हैरान कर देने वाली बात तो यह है कि व्यक्ति जो नेत्र विहीन है, उसके बावजूद वे मन की आँखों से कृष्ण की बाललीला का सुन्दर वर्णन करते हैं। वास्तव में सूरदास सूर्य की भाँति हैं, जिनकी रचना से साहित्य जगत आलोकित हो रहा है। मन, कर्म और वचन से मातृ वात्सल्य एवं बालपन के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूरदास दही के मथने और उसकी आवाज़ पर कृष्ण के नृत्य करने का सुखद चित्रण करते हैं । वे लिखते हैं कि-

"त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यों रई-घमरकौ होड़ (री)।

तैसियै किंकिनि-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर दोड़ (री)॥

कंचन कौ कठुला मनि-मोतिनि, बिच बघनहुँ रह्यौ पोइ (री)।

देखत बनै, कहत नहिं आवै, उपमा कौं नहिं कोइ (री)॥

निरखि-निरखि मुख नंद-सुवन कौ, सुर-नर आनंद होइ (री)।

सूर भवन कौ तिमिर नसायौ, बलि गइ जननि जसोइ (री)॥"

(पृष्ठ 64)

सूरदास कृष्ण के नटखटपन को बड़े ही सारगर्भित रूप में वर्णित करते हैं और उनकी चपलता, प्रेम, कथन तथा उत्सुकता को चित्रांकित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इतना ही नहीं, वे एक बालक के अंदर के कर्तव्यबोध को भी दिखाने का प्रयास करते हैं। कृष्ण जब माता यशोदा से कहते हैं कि हे माँ! मुझे जल्दी-जल्दी दूध, दही, मक्खन खिलाकर बड़ा कर दो ताकि मैं कंस को मार सकूँ । इस प्रकार की बाल लीला का वर्णन करना तो सिर्फ सूरदास के ही बस की बात है । सूरदास लिखते हैं कि –

"मैया, मोहि बड़ौ करि लै री।

दूध-दही-घृत-माखन-सेवा, जो माँगौ सो दै री ॥

कछू हाँस राखै जनि मेरी, जोइ-जोइ मोहि रुचै री।

होऊँ बेगि मैं सबल सबनि मैं, सदा रहौं निरभै री॥

रंगभूमि मैं कंस पछारौं, घीसि बहाऊँ बैरी।

सूरदास स्वामी की लीला, मथुरा राखौं जै री ॥ "(पृष्ठ 70)

सूरदास ने कृष्ण की बाल लीला के बहाने से हरि के दैवीय रूप को दिखाने का कार्य किया है । जब कृष्ण मिट्टी खाते हैं तो माता यशोदा उन्हें मिट्टी खाते हुए देख लेती हैं। कहती हैं कि आज तो तुम्हें मैंने रंगे हाथों पकड़ा है, अब कैसे झूठ बोलोगे। कृष्ण को मुँह खोलने के लिए कहती हैं, परन्तु जब माता यशोदा कृष्ण के मुँह में ही सारे ब्रह्मांड को देखती हैं तो आश्चर्य चकित हो जाती हैं । इस दृश्य को बड़े ही सूक्ष्मता के साथ व्यक्त करते हुए सूरदास लिखते हैं –

"लरिकनि कौं तुम सब दिन झुठवत, मोसौं कहा कहौगे।

मैया! मैं माटी नहिं खाई, मुख देखें निबहौगे ।।

बदन उघारि दिखायौ त्रिभुवन, बन घन नदी-सुमेर।

नभ-ससि-रबि मुख भीतरहीं सब सागर-धरनी-फेर ।।

यह देखत जननी मन ब्याकुल, बालक-मुख कहा आहि।

नैन उघारि, बदन हरि मुद्यौ, माता-मन अवगहि ।।

झूठें लोग लगावत मोकौं, माटी मोहि न सुहावै।

सूरदास तब कहित जसोदा, ब्रज-लोगनि यह भावै।।"

(पृष्ठ 102)

कृष्ण के बालरूप का चित्रण बड़ा ही मनमोहक है। कृष्ण की बाल लीला का रसास्वादन अमृत के समान है। माखन चोरी करने के लिए उनके द्वारा किये गये विविध उपायों से माँ यशोदा आनंदित होती हैं । गोपियों द्वारा कृष्ण की शिकायत करने, मटकी फोड़ने तथा गोरस चुराने का वर्णन सूरदास ने अकल्पनीय रूप में किया है । उनकी चपल हरकतों पर माता यशोदा को विश्वास नहीं होता है । कृष्ण की बाल लीला में सारी दुनिया सराबोर

हो गई । सूरदास लिखते हैं –

"अब ये झूठहु बोलत लोग।

पाँच बरष अरु कछुक दिननि कौ, कब भयौ चोरी जोग।।

इहिं मिस देखन आवतिं ग्वालिनि, मुँह फाटे जु गँवारि।

अनदोषे कौं दोष लगावतिं, दई देइगौ टारि ॥

कैसें, करि याकी भुज पहुँची, कौन बेग ह्याँ आयौ?

ऊखल ऊपर आनि पीठ दै, तापर सखा चढ़ायौ ।।

जौ न पत्याहू चलौ सँग जसुमति, देखौ नैन निहारि।

सूरदास-प्रभु नैकु न बरज्यौ, मन मैं महरि बिचारि॥"

(पृष्ठ 118- 119)

सूरदास ने कृष्ण के नटखटपन और उनके वार्तालाप को बड़े ही उत्कृष्ट एवं चमत्कारिक ढंग से वर्णित किया है । कृष्ण माता यशोदा से दाऊ की शिकायत करते हैं और उलाहना देते हुए कहते हैं कि दाऊ मुझे चिढ़ाते हैं । वे कहते हैं कि यशोदा मैया ने उन्हें मोल लिया है, चुटकी लेते हैं और सब उन पर हँसते हैं । कहते हैं कि नंद और यशोदा गोरे हैं और वह कृष्ण श्याम रंग के हैं, इसलिए उनका कोई मेल नहीं है । सूरदास इसका वर्णन करते हैं कि –

"मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।

मोसों कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ।।

कहा कहाँ इहिं रिस के मारे खेलत हौं नहि जात।

पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात।।

गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर।

चुटकी दै दै हंसत ग्वाल सब, सिखै दैत बलबीर ।।

तू मोहीं कों मारन सीखी, दाउहिं कबहुं न खीझै।

मोहन-मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥

"सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।"

सूर स्याम, "मोहिं गोधन की सौं, हौं माता, तू

पूत"।।"(पृष्ठ 162-163)

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि महाकवि सूरदास की पदावली में कृष्ण की बाल लीला का वर्णन साकार रूप में हुआ है । उनकी लीला में वे समस्त लीलाएँ समाहित हैं जो आनंद को अभिव्यक्त करती हैं । मन तथा हृदय को शांति प्रदान करती हैं और मानस चेतना को अंदर से झंकृत करते हुए ज्ञान, बुद्धि और कर्म के महत्त्व का बयान करती हैं। वास्तव में सूरदास की बाल लीला में माता और पुत्र ऐसे वर्णित हैं, जिसमें संपूर्ण जगत आनंद से सराबोर हो उठता है ।

आधार ग्रंथ :

सूरदास दोहावली, न्यू साधक पॉकेट बुक्स दिल्ली, संस्करण -2008

सहायक ग्रंथ :

प्रजापति, डॉ.जगदीश कुमार- हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रवृत्तयात्मक अध्ययन, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, संस्करण – 2002

सिंह, डॉ.राम अंजोर तथा अन्य, हिन्दी भाषा एवं साहित्य का इतिहास, हिन्दी पत्रकारिता एवं निबंध-लेखन, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या-फैजाबाद, 2003, पृष्ठ 121

उपाध्याय, डॉ प्रेमनाथ- सूरदास तथा नंददास के भ्रमरगीत तुलनात्मक अध्ययन, कला प्रकाशन, संस्करण – 2006

रावत, चन्द्रभान - सूर साहित्य: नव मूल्यांकन, जवाहर पुस्तकालय, संस्कारण- 1967

गौतम, मीरा-सूर-काव्य में लोक दृष्टि का विश्लेषण, निर्मला पब्लिकेशन्स, संस्करण –1999

◆सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

महात्मा हंसराज मार्ग

मलकागंज, दिल्ली - 110 007

मो. 7807111737



दुर्गा प्रसाद पारकर के साहित्य में चित्रित छत्तीसगढ़ी लोकगीत

♦धर्मेन्द्रकुमार पाटनवार ♦♦ डॉ. अंजलीशर्मा

भूमिका- छत्तीसगढ़ राज्य की स्थापना 1 नवंबर सन 2000 ई. को हुआ। यह मध्यप्रदेश से अलग होकर देश का 26 वाँ राज्य बना। राज्य बनने के पीछे इसकी अपनी समृद्धि सांस्कृतिक विरासत एवं पहचान रही है। छत्तीसगढ़ नामकरण के संबंध में भी विभिन्न किंवदतियाँ हैं। लेकिन सामान्यत: यह मान लिया जाता है कि इस क्षेत्र में शिवनाथ नदी के उत्तर में स्थित 18गढ़ एवं दक्षिण में स्थित 18गढ़ के कारण इस क्षेत्र का नाम छत्तीसगढ़ पड़ा। यह क्षेत्र जनजातीय बहुल क्षेत्र के साथ विभिन्न जातियों का संगम स्थल भी रहा है। प्रत्येक जाति के अपने तीज-त्यौहार, उत्सव-परंपरा, संस्कार आदि भी भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन क्षेत्र विशेष के प्रभाव के कारण कुछ परंपराएँ सभी जातियों में समान रूप से पाई जाती हैं। इन्हीं परंपराओं में से एक है लोकगीत । लोकगीत लोक-आत्मा का प्रतीक है, जो लोक जीवन को उन्नत एवं संस्कारवान बनाने के साथ मानवता का संदेश देता है। मनुष्य जब इस संसार में अवतरित हुआ होगा तथा अपनी संवेदना को व्यक्त करने के लिए बोलना प्रारंभ किया होगा, तभी से उसने कुछ गुनगुनाना भी सीख लिया होगा। मनुष्य जब समूह में एक साथ रहना प्रारंभ किया होगा, तब एक दूसरे की भावना को समझना शुरू किया होगा। तभी उसके अंदर से भाव किसी गीत के रूप में प्रकट हुआ होगा। जैसे संस्कृत के आदि कवि 'वाल्मीकि' ने क्रौंच पक्षी के युगल को व्याघ्र द्वारा शिकार के उद्देश्य से घायल कर देने से क्रौंच की पीड़ा को देखकर वाल्मीकि के मुँह से कविता प्रस्फुटित हो गयी। जानवर का बच्चा जब पैदा होता है तो उसकी ज़िंदगी की शुरुआत वहीं से होती है, जहाँ से उसके पिता ने शुरू किया था। लेकिन मनुष्य अपने बच्चों को वहाँ से ज़िंदगी शुरू करवाता है, जहाँ खुद समाप्त करता है। अर्थात् मनुष्य के पास अपनी संस्कृति की धरोहर सुरक्षित रहती है, यही संस्कृति लोकगीत के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। हिंदी के सुप्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत मनुष्य के इस भाव को व्यक्त करते हुए कहता है-

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान"।[1]

बीज शब्द – कूट-कूट, संस्कृति, गोदना, भुईंया, कछार, चंदैनी-गोन्दा, सोहरगीत, मीर, छत्तीसगढ़ी, भड़वनी, पटुवा भाजी।

शोध सारांश- छत्तीसगढ़ की अपनी पहचान अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के लिए जानी जाती है। यहाँ बारहों महीने तीज-त्योहार, उत्सव का संगम बना रहता है। यहाँ रहने वाले लोग अपनी समृद्ध परंपरा का निर्वहन करते हुए उत्सव मनाकर उनका आनंद लेते रहते हैं। छत्तीसगढ़ मूलतःगाँवों में बसा है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार 76.76 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण है, इसलिए ज़्यादातर आबादी गाँव में बसती है। गाँव का प्राकृतिक सौंदर्य नदी, पहाड़, झील, झरने, घाटी, पेड़-पौधे, पशु-पक्षियों से भरा हुआ होता है। इन सब के बीच रहकर मनुष्य की संवेदना और अधिक जागृत हो उठती है तथा वह किसी न किसी बहाने गीत का रूप धारण कर लेती है। यहाँ के रहने वाले लोग मूलत: कृषि एवं वन उपज आधारित व्यवसाय से अपना जीवन यापन करते हैं। इसलिए इनकी परंपरा एवं तीज-त्योहार प्रकृति जनित एवं व्यवसाय आधारित होते हैं। दुर्गा प्रसाद पारकर छत्तीसगढ़ के माटी पुत्र, जिनमें ग्रामीण जीवन एवं संस्कृति कूट-कूटकर भरा हुआ है। सरकारी नौकरी में रहकर भी अपनी संस्कृति से जुड़े रहने के कारण अपनी समृद्धि विरासत को संरक्षित तथा आने वाली पीढ़ियों को हस्तांतरित करने हेतु अपने साहित्य में लोक अभिव्यक्ति के द्वारा विभिन्न संस्कारपरक गीतों को सहेजने का काम किया है। दुर्गा प्रसाद पारकर मूलतः छत्तीसगढ़ी भाषा के साहित्यकार हैं। उन्होंने अपनी कृति नाटक, उपन्यास, कविता, कहानी, निबंध, जीवनी में लोक जीवन के विभिन्न आयामों को छूते हुए उन्हें सहेजकर परोसा है। उनके साहित्य में मुख्य रूप से ग्रामीण जीवन संस्कृति दिखाई देती है। लोकगीतों के माध्यम से दुर्गा प्रसाद पारकर ने लोक समृद्धि के द्वारा मानव मूल्य, भाईचारा,सहजता, सीधापन का संदेश दिया है। जिस प्रकार धरती के बिना जीवन संभव नहीं है, उसी प्रकार मानव जीवन को समाज की आवश्यकता होती है, समाज को बनाए रखने हेतु संस्कृति की ज़रूरत होती है। संस्कृति को बचाए रखने के लिए लोक गीतों

की ज़रूरत होती है। लोकगीत मनुष्य के स्वयं के आख्यान होते हैं जो वह समाज में रहकर, देखकर सीखता एवं अनुभव करता है तथा वह सहज ढंग से उसके मुख से प्रकट होकर लोकगीत बन जाती है।

दुर्गा प्रसाद पारकर के साहित्य में चित्रित लोकगीत:-

दुर्गा प्रसाद पारकर के साहित्य में विभिन्न लोकगीतों का समायोजन ग्रामीण जीवन के कथा के साथ बढ़ते हुए प्रस्तुत हुआ है। वे अपने साहित्य में अपनी संस्कृति को संरक्षित करते हुए वर्तमान एवं पुरातन के बीच सामंजस्य बनाते हुए दिखाई देते हैं। विकास हेतु नई संस्कृति को स्वीकार करना एवं मनुष्यता हेतु पुरातन परंपरा को संरक्षित करना तथा रूढ़ियों के खिलाफ आवाज़ बुलंद करना पारकर जी की विशेषता रही है।

<u>सोहर गीत:-</u> छत्तीसगढ़ी ग्रामीण जनजीवन में बच्चों के जन्म के अवसर पर उत्सव के रूप में समान्यत: सोहर गीत गाया जाता है। उपन्यास 'केंवट कुँदरा' में बिसे लाल को शादी के बहुत समय बाद पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। इस उपलक्ष्य में आयोजित षष्ठी संस्कार के दिन उत्सव में सभी स्त्री-पुरुष गायक दल के साथ सोहर गीत गाते हैं-

जुग जुग जिए तोर लाला
ये मदन गोपाला ये
ओ बहिनी तोर घर बेटवा बिराजे
उछाह मंगल गावत आनंद बधाई.....
काकर घर सोहर होवय ओ [2]

गीत के द्वारा बधाई संदेश बिसे लाल को दिया जाता है एवं उसके पुत्र को राम, लक्ष्मण, भरत के समान प्रतीक मानकर शुभ आशीर्वाद दिया जाता है।

लोकगीत जीवन की आस्था एवं सौंदर्य का प्रतीक होता है। इसलिए छत्तीसगढ़ी ग्रामीण अपने काम करते हुए भी एक तरह से उत्सव मनाते हैं। जैसे ही आषाढ़ का महीना प्रारंभ होता है,बिसे लाल खेती- किसानों के काम में लग जाता है। खेत में हल चलाते समय धूप में पसीने से लथपथ होकर भी, लेकिन अपने कार्य को उत्सव मानकर करने के कारण उसके मुख से गीत की लय झड़ पड़ती है। इस तरह हर समय हर काम में उत्सव मनाते हुए गाए जाने वाले गीत को 'ददरिया गीत' कहा जाता है।बिसे लाल हल चलाते-चलाते गाने लगता है-

धान ल लुए,गीरे ला कंसी
भगवान के मंदिर म बाजत है बंसी
छत्तीसगढ़ के भुईंया ठइया के बलिहारी हे
करों जोहार उतारो आरती मन फुलवारी हे। [3]

इस तरह गीत गाकर बिसेलाल प्रकृति के साथ रम जाते हैं एवं गीत के माध्यम से अपनी मातृभूमि के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए उसकी महिमा का बखान करते हैं।बिसेलाल रबी सीजन में भर्री में सब्जी बैगन, मिर्च, टमाटर, गोभी लगाता था। सब्जी के फसल को लहलहाते देखकर वह ददरिया गीत गाने लगता है-

फुले हे चंदैनी गोंदा भुइयाँ कछार म।
बिक्कट सुन्दर हवस गोरी तैं तो हजार म।। [4]

इस तरह पारकर ने सब्जी के फूलों के सौंदर्य को गीत के रूप में व्यक्त किया है।'ददरिया' मुलत: श्रृंगारपरक गीत है, जिसे किसी भी समय उत्साह में महिला एवं पुरुष दोनों द्वारा गाया जाता है। इसलिए इसे छत्तीसगढ़ी लोकगीतों की 'रानी' मानी जाती है। कभी यह गीत संवादात्मक हो सकता है। कभी-कभी स्त्री-पुरुष के बीच प्रश्नात्मक शैली में भी हो सकता है। छत्तीसगढ़ी ग्रामीण जीवन में कृषि-कार्य, वनोपज संग्रहण-कार्य, इसके अतिरिक्त रसोई के कार्यों जैसे-धान कूटते, चक्की में चावल पीसते हुए भी महिलाएँ गाती हैं।

<u>गोदना:-</u> छत्तीसगढ़ी ग्रामीण संस्कृति में 'गोदना' का बड़ा महत्व है।'गोदना' का अर्थ है शरीर के अंग मुख्यत: जो दूर से दिखाई दें, जैसे हाथ, चेहरे विशेषकर नाक एवं दाढ़ी जिन पर विशेष चिन्ह अंकित किया जाता है, जिससे सौंदर्य बढ़ जाता है। साथ ही कष्ट निवारण भी माना जाता है।'गोदना' गोदने का कार्य छत्तीसगढ़ में मुख्यत:'देवार' जाति के लोग करते हैं। यह कार्य उनके पैतृक के साथ आजीविका का आधार होता है। 'गोदना' का छत्तीसगढ़ी अर्थ 'गोभना या चुभोना' भी होता है। जिसका तात्पर्य है शरीर के अंगों पर लोहे के नुकीले हथियार से कोई चिन्ह उकेरना। 'गोदना'गोदवाने वाले को गोदवाते समय दर्द होता है। 'गोदना' गोदवाना शुभ माना जाता है। इसलिए सभी नवयुवतियाँ विवाह के पूर्व 'गोदना' गोदवाती हैं। अगर कोई 'गोदना' गोदवाए बिना विवाह कर लेती है तो ससुराल पक्ष के लोग ताना मारते हैं एवं 'गोदना' गोदवाने का पैसा भी बहू के घर वालों से माँगते हैं। एक मान्यता यह भी है कि 'गोदना' गोदवाने से स्त्री मृत्यु के बाद स्वर्ग जाते हैं। इसलिए यह गीत प्रचलित है-

ददा देते चुरा पइरी टूट फूट जाय।
दाई देते कारी गोदना माटी म मिल जाय ।। [5]

विवाह गीत:- उपन्यास 'केंवट कुँदरा' में पंचू की शादी के समय आयोजित विभिन्न छत्तीसगढ़ी रश्म जो गीत से बद्ध होकर निर्वहन किये जाते है। सर्वप्रथम चूलमाटी गीत जो चूलमाटी रस्म के साथ गाया जाता है। यह विवाह परंपरा में प्रथम रस्म होता है। इस रस्म में वर एवं वधु दोनों घरों के आँगन पर मड़वा छाया जाता है, जिसे मंडपाच्छादन भी कहते हैं। फिर सायंकाल में गाँव के पवित्र जगह-तालाब किनारे या गोठान-से मिट्टी लाने की परंपरा को 'चुलमाटी' कहा जाता है।'चुलमाटी'खोदते समय जो गीत गाया जाता है उसे 'चुलमाटी'गीत कहते हैं। लाई हुई इस मिट्टी से चूल्हा बनाया जाता है। पंचू की शादी में भी चुलमाटी खोदते समय 'चुलमाटी गीत' गाया जाता है:-

तोला साबर धरे ला नई आवयमीर
तोला माटी कोड़े ला नई आवयमीर
धीरे-धीरे अपन कनिहा ला तीर
तोला माटी जोरे ला नई आवयमीर
धीरे-धीरे तोर धोती ला तीर। [6]

तेल चघनी गीत:- पंचू के विवाह में मंडपाच्छादन के बाद तेल-हल्दी लगाने का रस्म शुरू होता है, जिसमें आंगन को गोबर से पुताई कर आटे से चौक पूरा जाता है, जिसे रंगोली कहते हैं। इसी चौक के ऊपर मंगलकलश रखा जाता है। यह कांसा का लोटा है, जिसके ऊपर आम पत्ते, फिर पलाश के पत्ते के दोने बनाकर उसमें धान रखा जाता है, इसी पर दीपक रखकर उसे जलाता है। इस रस्म के बाद वर-वधु को हल्दी लगाने का रस्म पूरा किया जाता है। यह रस्म अधों से उपांग की ओर पांच या सात बार चढ़ाया जाता है। इसी रस्म को तेल चढ़ाना कहते हैं। इसी अवसर पर रस्म अदा करने में सहयोगी महिलाओं द्वारा सामूहिक रूप से तेल चघनी गीत गया जाता है। पंचू को भी तेल हल्दी लगाते समय यह गीत गाते हैं:-

मड़वा म दुलरू
तोरे बदन कुम्हलाय
रामे ओ लखन के
दाई तेल चघत हे
कहँवा के दीयना
होवत हे अँजोर। [7]

दतेला दोहा:- यह विवाह के समय वर पक्ष द्वारा अपने ऐश्वर्य का परिचय देने के लिए गाया जाता है जिसके माध्यम से उल्लास एवं खुशी व्यक्त की जाती है। पंचू की शादी में भी यह दोहा उत्साहवर्धन हेतु गाया जाता है:-

ये पार नदी ओ पार नदी, बीच म भांठा कछार
हमर पंचू के बिहाव होवत हे, लगे हे रुपिया हजार रे.....। [8]

बारात बिदा गीत:- छत्तीसगढ़ी ग्रामीण जीवन में विवाह उल्लास का समय होता है। एक पिता के लिए यह सबसे शुभ अवसर होता है, इसलिए धूमधाम से विवाह का रस्म संपन्न होता है। इसका प्रत्येक रस्म गीत से जुड़ा होता है जो आनंद में वृद्धि करता है। वर जब वधु को लाने के लिए अपने घर से प्रस्थान करता है तब महिलाएँ खुशी में यह गीत गाते हुए भगवान श्रीराम एवं माता सीता के विवाह को प्रतीक मानकर अपने वर को राम मानकर अवध से जनक बारात प्रस्थान करने को तैयार करती हैं। इस भाव को गीत में पिरोते हुए गाते हैं:-

गाँव अवधपुर ले चले बरतिया
गाँवें जनकपुर जाये
ये हो राम गाँव जनकपुर जाये
राजा जनक के परपर भांठा
तंबू ला देवय तनाये ।[9]

बारात स्वागत गीत:- वधु पक्ष द्वारा बारात आगमन की सूचना पाकर अपने घर के छतों से बारात का दृश्य देखकर प्राय: अनुमान लगाया जाता है कि बारात में काफी संख्या में लोग आते हैं। उनके स्वागत-सत्कार में लग जाते हैं। भारतीय संस्कृति में अतिथि देवो भव: कहा जाता है। इसलिए लोकगीतों में भी बाराती लोग पूजनीय होते हैं तथा भगवान के स्वरूप होते हैं। वर को स्वयं भगवान श्रीराम का ही प्रतीक माना जाता है। पंचू भी जब बारात लेकर वधु पक्ष के घर पहुँचता है तो वहाँ वधु पक्ष की महिलाओं द्वारा बारातियों का स्वागत करते हुए गाया जाता है:-

कैंदल अवये
हथियन-घोड़ना
कैं-कैं दल आवथेबराते
के अब देखो हो ललना
दल-दल आवथे हथियन घोड़वा
के बीस दल आवथे बराते
के अब देखो हो ललना
पोगरी समोरिहवं
हथियन-घोड़वा
बराते बगरी समोरिहवं[10]

भड़वनी गीत:- छत्तीसगढ़ी ग्रामीण जीवन संस्कृति में

विवाह के समय जब बारात लेकर वर वधु पक्ष के घर पहुँचता है, तो वधु पक्ष द्वारा बारातियों का आदर-सत्कार किया जाता है। इसी बीच बारातियों को चिढ़ाने के लिए वधु पक्ष की महिलाओं द्वारा हास-परिहास हेतु व्यंग्य शैली में भड़वनी गीत गाया जाता है। सामान्यतः यह व्यंग्य ही होता है, इसे बारातियों द्वारा अनादर नहीं माना जाता है। इससे प्रेम एवं आनंद का संचार होता है। यह गीत छत्तीसगढ़ी विवाह परंपरा में प्रसिद्ध है। पंचू जब बारात लेकर वधु पक्ष के घर पहुँचता है तो स्वागत के पश्चात् यह गीत वधु पक्ष की महिलाओं द्वारा गाकर मनोरंजन किया जाता है:-

नदिया तीर के पटुवा भाजी ,उल्हवा उल्हवा दिखथ रे
आये हे बरतिया ते मन, बुढ़वा बुढ़वा दिखथ रे
आये हे.....
नदिया तीर के पटुवा भाजी ,पटपट-पटपट करथे रे
आये हे बरतिया ते मन ,मटमट-मटमट करथे रे
आये हे ..... [11]

बिदा गीत:- छत्तीसगढ़ी ग्रामीण संस्कृति में विवाह परंपरा में वधु पक्ष का एक अंतिम रस्म होता है। विवाह के पश्चात वर-वधु को लेकर प्रस्थान करना चाहता है। तब वधु पक्ष द्वारा अपनी पुत्री को विदा करते समय विदा गीत गाया जाता है। यह भावुक क्षण होता है। हृदय विदारक दृश्य होता है। जिस पुत्री को माता-पिता बड़े लाड-प्यार से परवरिश करते हैं, उसे सांसारिक नियमों के अनुसार एक दिन अपने घर से विदा करते हैं। इस अवसर पर माता-पिता दोनों की आँखों में अश्रु धाराएँ बहती हैं। ये आँसू ख़ुशी के होते हैं। माता-पिता अपने कर्तव्य पालन का तथा पुत्री के नए दांपत्य जीवन में प्रवेश की खुशी का गीत गाते हैं। माता-पिता गीत के द्वारा विदा देते हैं:-

आजि के चंदा नियरे ओ नियरे
दाई मैं काली जाहू बड़दूरे
ओ दाई मैं काली जाहँ बढ़ दूरे
अपन दाई के राम दुलौरीन
यह दाई मोला
छीन भर कोरा म ले ले।[12]

निष्कर्ष:-इस तरह दुर्गा प्रसाद पारकर ने अपने साहित्य के द्वारा छत्तीसगढ़ी ग्रामीण जीवन परंपरा में विभिन्न अवसरों पर आयोजित विभिन्न संस्कारजन्य गीतों के द्वारा उसके मूल भाव को संरक्षित कर परंपरा को पुनर्जीवित कर छत्तीसगढ़ी लोकगीतों की विविधता को प्रकट किया है। ये गीत छत्तीसगढ़ी लोक जीवन में इस तरह रचे-बसे हैं, जैसे फूलों में सुगंध बसी होती है। विवाह केवल दो परिवारों का मिलन समारोह ही नहीं होता, बल्कि इस परंपरा के द्वारा अपने समाज, अपने परिवार, अपने चाहने वालों, अपने मित्रों के बीच आपसी सहयोग, प्रेम, भाईचारा तथा सौहार्द बनाए रखने में भी सहायक होता है। इस परंपरा के माध्यम से सभी को एक साथ एक जगह इकट्ठा होने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार आनंद का प्रसार होता है। वर्तमान समय में भौतिकता एवं पाश्चात्य संस्कार विवाह में शामिल हो गये हैं, इससे विवाह का मूल भाव क्षीण होने लगा है। आज यह परंपरा एक दूसरे को दिखाने एवं जताने का मंच बन गयी है। इसी कारण रिश्तों में, परिवार में कड़वाहट पैदा हो गयी है। हमारी संस्कृति में विवाह को जन्म-जन्मांतर का संबंध माना जाता है। वह आधुनिकता की आड़ में ज़रूरत, स्वार्थ-पूर्ति तथा मनोरंजन का साधन बनकर रह गया है। रिश्ते टूट रहे हैं, परिवार बिखर रहे हैं मान्यताएँ एवं संस्कार क्षरण हो रहे हैं। इसलिए आज हमें इन पारंपरिक मूल्यगत संस्कार को बचाकर रखने की ज़रूरत है, क्योंकि यह मूल्यगत परंपरा ही हमें जीवित एवं रिश्तों को उनके मूल स्वरूप में बनाए रखने में मदद करती है। इन लोकगीतों में प्रकृति और मानव के संबंध को अक्षुण्ण रखते हुए लोक प्रेरक के भी कार्य करते हैं। इसलिए लोक चेतना के संवाहक को बनाए रखना हम सभी का कर्तव्य है। ग्रामीण जीवन अभी भी भौतिकता एवं शहरी संस्कृति के जहरीले दंश से बचा हुआ है। इसलिए इनके जीवन में ऋजुता है, सच्चाई है तथा स्वच्छन्दता के साथ स्वाभाविकता है। इन लोकगीतों में मूल्य के साथ दर्शन के रहस्य उद्घाटित होते रहते हैं, जिनसे जीवन का स्पंदन होता है। ये गीत छत्तीसगढ़ी ग्रामीण जीवन की सरसता को प्रतिबिंबित करते हैं।

संदर्भ:-

1.पंत – सुमित्रानंदन, पल्लव संस्करण – 2013, राजकूल प्रकाशन दरियागंज, नईदिल्ली,पृ.सं. 62

2.पारकर-दुर्गा प्रसाद, केंवट कुंदरा, संस्करण-2019, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली,पृ.सं. 10

3.वही,पृ.सं. 15

4.वही,पृ. सं. 16

5.पारकर – दुर्गाप्रसाद – चिल्हाटी, संस्करण – 2001, अंकित स्क्रीन शंकर नगर दुर्ग, पृ. सं. 22
6.पारकर- दुर्गा प्रसाद, केंवट कुंदरा, संस्करण-2019, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली,पृ. सं. 45
7.वही,पृ. सं. 47
8.वही,पृ. सं. 48
9.वही,पृ. सं. 53
10.वही,पृ. सं. 55
11.वही,पृ. सं. 56
12.वही,पृ. सं. 67

◆ शोधार्थी (हिन्दी) अटलबिहारीवाजपेयी विश्वविद्यालय, बिलासपुर,छत्तीसगढ़
मो.नं. – 8319794088
ई.मेल:dharmendrapatanwar47579@gmail.com
◆◆शोध निदेशक (प्राचार्य)
वीरांगना अवन्तीबाई लोधी महाविद्वालय, पथरिया जिला, मुंगेली (छत्तीसगढ़)
पता:- सहायक प्राध्यापक, हिन्दी शासकीय इन्द्रावती महाविद्यालय, भोपाल,पटनम जिला-बीजापुर

अवधी फाग गीतों में अभिव्यक्त विरह चेतना



◆राहुल पटेल

शोध सार: 'लोकगीत' लोकसाहित्य का सबसे प्रधान रूप है। लोकभाषा के गीतों को लोकगीत कहा जाता है, जिनमें लोकजीवन का प्रतिबिंब होता है। अवधी लोकगीत की परंपरा बहुत ही लोकप्रिय और समृद्ध रही है। लोकगीत ही वह सशक्त माध्यम रहा है, जिसके कारण ग्रामीण क्षेत्र के निवासी अपने दुख, सुख, प्रेम, उत्साह, मिलन और विरह की भावनाओं की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। लोकगीत को हम कई रूपों में बाँटते हैं, जैसे- विवाहगीत, संस्कार संबंधी गीत, ऋतु संबंधी गीत, जाति संबंधी गीत, श्रम संबंधी गीत और देवी देवताओं संबंधी गीत। इन सभी गीतों में जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति लगातार होती रहती है। प्रस्तुत शोध पत्र ऋतु संबंधी गीतों के अंतर्गत आने वाले फाग गीतों में विरह-चेतना को प्रदर्शित करना है। फाग गीत मुख्यतः होली पर्व से जुड़े हुए लोकगीत है, जिनमें प्रेम, रंग, मिलन और विरह की अभिव्यक्ति होती है। प्रायः समाज में यह प्रचलित है कि फाग गीतों का मूल स्वर उत्सव और आनंद का होता है,परंतु ध्यान दिया जाए तो इन गीतों में विरह की गहन संवेदना भी दिखाई देती है। विरह चेतना लोकजीवन की भावनात्मक गहराई को व्यक्त करती है, जहाँ प्रेमिका अपने प्रिय के वियोग में व्याकुल दिखती है। इस शोध पत्र में अवधी फाग गीतों में उपस्थित विरह भाव की प्रकृति, उसके कारणों, अभिव्यक्ति के रूपों आदि का विश्लेषण किया गया है। अवधी फाग गीतों में विरह केवल व्यक्तिगत भावना नहीं है, परंतु यह लोकजीवन की सांस्कृतिक संवेदना और सामाजिक यथार्य का भी प्रतिनिधित्व करता है।

मूल शब्द: अवधी लोकगीत, फाग, विरह, लोक संस्कृति. स्त्री संवेदना, लोक साहित्य आदि।

प्रस्तावना:

हिंदी साहित्य में अवधी का विशिष्ट स्थान है और अवधी में उसके लोक साहित्य का। अवधी लोक साहित्य वह माध्यम है, जिसमें लोकमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिलती है। कहा जाता है कि लोक साहित्य, लोक संस्कृति का वास्तविक प्रतिबिंब होता है। लोकमानस की ये सरल, स्वाभाविक व्यंजना लोकगीतों के माध्यम से अधिकांशतः व्यक्त होती दिखाई पड़ती है। अवधी भाषा में रचित लोकगीत ग्रामीण समाज के जीवन, संस्कृति, उत्सव, श्रम, प्रेम और पीड़ा का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। लोकगीत वे गीत हैं जिनका प्रधान तत्व गेयता है। "लोकगीत प्रायः संक्षिप्त और भावप्रधान होते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी व्यापकता में निहित है।"

अवधी लोकगीतों में सोहर कजरी, बिरहा, चैती, आल्हा तथा फाग प्रमुख हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में फाग

गीत पर ध्यान केंद्रित किया है। फाग गीत मुख्यतः होली पर्व से जुड़े होते हैं। यह वह समय होता है जब प्रकृति पतझड़ का सामना करके फिर से नवजीवन की ओर अग्रसर होती है। पेड़-पौधे, खेत-खलिहान और वातावरण रंगों तथा खुशियों से भर उठते हैं। इसी उल्लासपूर्ण वातावरण में फाग गीतों का गायन किया जाता है। होली के अवसर पर अक्सर ग्रामीण समाज में स्त्री और पुरुषों समूह में बैठकर या खेत-खलिहानों में इन गीतों का गायन करते देखते हैं। इन गीतों के माध्यम से जीवन के विविध भावनात्मक पक्षों को उजागर किया जाता है। फाग गीतों का मूल स्वर आनंद और उत्सव का है, किंतु इन गीतों के भीतर विरह की गंभीर संवेदना भी विद्यमान है। विरह भारतीय काव्य परंपरा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण भाव है। संस्कृत साहित्य से लेकर हिंदी के भक्तिकाल और रीतिकाल तक विरह की अनुभूति को चरम अभिव्यक्ति मानी गयी है। यही विरह भाव लोकगीतों में भी स्वाभाविक रुप में दिखाई देता है। आगे हम इन्हीं फाग गीतों में अभिव्यक्त विरह-चेतना देखने का प्रयास करेंगे।

अवधी क्षेत्र में होली केवल एक धार्मिक उत्सव नहीं है, बल्कि यह सामाजिक एकता और सामूहिक आनंद का त्योहार है। ग्रामीण क्षेत्र के लोगों में एकता का अनूठा दृश्य दिखाई देता है। यहाँ के लोग फाग गीत सामूहिक रूप से गाते हैं, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। यही विशेषता इसे विशेष बनाती है। लोकगीतों की विशेषता होती है कि ये किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं, बल्कि समाज की सामूहिक सृजनशीलता का परिणाम होते हैं। लोकगीत में जीवन की जो वास्तविक परिस्थिति होती है, उसका चित्रण मिलता है। इसीलिए इन गीतों में प्रेम, हास्य, उत्साह और विरह जैसी स्वाभाविक भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में विरह को श्रृंगार रस का विप्रलंभ पक्ष कहा गया है। विरह की अवस्था में प्रिय की स्मृति लगातार परेशान करती रहती है और दुःख की वेदना को अधिक गहन बनाती है। आचार्य शुक्ल जी ने कहा है-

"वियोग की दशा में प्रेम की अनुभूति और अधिक तीव्र हो जाती है।"[3]

लोकगीतों में विरह की अभिव्यक्ति बहुत ही स्वाभाविक होती है, क्योंकि यह लोकमानस के जीवन से सीधे जुड़ी होती है।

अवधी फाग गीतों में विरह चेतना कई रूपों में अभिव्यक्त हुई है- पहला, हम कह सकते हैं कि प्रिय के परदेश जाने से उत्पन्न विरह। ग्रामीण समाज में अक्सर देखा गया है कि वहाँ रोज़गार की संभावना अत्यंत कम होती है, इसलिए वहाँ के लोग हमेशा से ही शहरों की तरफ पलायन करते नज़र आए हैं। इस प्रकार पुरुषों के बाहर जाने से स्त्रियों में विरह की ज्वाला जल उठती है। इस विरह को हम निम्न पक्तियों के माध्यम से समझ सकते हैं-

"फागुन आयो सखी, रंग बरसे अंगनवा,
पिया गइले परदेश, सूना लागे घरवा है"[4]

इस फाग गीत में नायिका फागुन के आगमन के बावजूद प्रसन्न नहीं है, क्योंकि उसका प्रिय परदेश चला गया है। चारों ओर रंग ही रंग बरस रहे हैं किंतु नायिका को घर सूना-सूना लग रहा है। नायिका अपने पति की याद में विरह की अनुभूति में यह गीत गा रही है। यहाँ उत्सव और विरह का द्वंद्व दिखाई देता है। एक उदाहरण और देखते हैं-

"फागुन फाग केकरे संग खेलऊ,
मइ केहि पर छिरकऊँ अबीरा।"[5]

यहाँ नायिका कह रही है कि मेरा प्रिय तो यहाँ है ही नहीं और फागुन में फगुआ वह किसके साथ खेले। वह अपने अबीर गुलाल किसे लगाए। इस गीत में सामूहिक उत्सव और व्यक्तिगत दुःख के बीच स्पष्ट द्वंद्व दिखाई पड़ता है। जहाँ अन्य स्त्रियाँ होली खेल रहीं हैं, वही विरहणी के लिए यह उत्सव दुःख का कारण बन गया है। यहाँ सामूहिक आनंद और व्यक्तिगत पीड़ा का विरोधाभास एक महत्वपूर्ण काव्यात्मक तत्व है।

विरह-चेतना का दूसरा रूप हमें प्रकृति के माध्यम से दिखाई पड़ता है। प्रकृति के माध्यम से विरह को दर्शाया जाना इन गीतों की विशेषता रही है। अवधी फाग गीतों में प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि वह भावनात्मक अनुभव को तीव्र बनाने का माध्यम भी है। जैसे कि नीचे एक उदाहरण में देखता है-

"अमवा डार कोयलिया बोले,
फूले बन बाग।
पिया बिना मोरा मनवा रोवे,
कैले खेलूँ फाग।"[6]

यहाँ ध्यान से देखें तो हमें प्रकृति के तीन मुख्य तत्व दिखाई देते हैं- आम के वृक्ष, कोयल की कूक, फूलों से भरा बाग। ये तत्व हमेशा से वसंत ऋतु के आगमन के प्रतीक रहे हैं और प्रेम के प्रतीक भी माने जाते हैं। विरोधाभास यह है कि ये सभी संयोग के तत्व होकर भी, नायिका के लिए यही प्रकृति विरह को और अधिक गहरा बनाने का कार्य कर रही है। यहाँ प्रकृति उद्दीपन विभाव का कार्य कर रही है। इस प्रकार यह गीत दर्शाता है कि प्रकृति की सुंदरता विरह की स्थिति में सुख के बजाय दुःख को बढ़ा सकती है।

विरह-चेतना का एक रूप परदेश गमन भी है। यह ग्रामीण जीवन की सामाजिक स्थिति को भी दर्शाता है। ग्रामीण समाज में रोज़गार की प्रमुख समस्या होती है, जिसके कारण पुरुषों को परदेश जाकर रोज़गार के अवसर की तलाश करना होता है। यही परदेश गमन लंबे समय तक रहने पर स्त्रियों के विरह का कारण बनता है। होली जैसे अवसरों पर भी अपने घर न आ पाने से स्त्रियों में अकेलेपन का भाव उत्पन्न होता है, जिससे उनकी विरह चेतना को और अधिक संबल मिलता है।

"सब सखियन खेलत होरी,
हर ओर गुलाल उड़े।
हमरे नयनन बरसे नीर,
पिया बिना मन झुरे।"[7]

इस गीत के माध्यम से यह दिखाया गया है कि कैसे नायिका का मन दुख के कारण बुझ गया है और वह खूब रो रही है, क्योंकि उसका प्रिय होली के अवसर पर भी घर नहीं आया है। चारों ओर रंग, गुलाल अबीर उड़ रहे। चारों ओर खुशी का माहौल है। नायिका की सखियाँ भी होली खेल रही हैं, केवल नायिका ही अपने प्रिय की याद में आँसू बहा रही है।

एक अन्य उदाहरण के माध्यम से देखें तो हमें ग्रामीण समाज की आर्थिक संरचना का भी दर्शन हो जाएगा-

"फागुन आयो सखी, रंग बरसे अंगनवा,
पिया गइले परदेश, सूना लागे घरवा।"[8]

यहाँ प्रयुक्त शब्द 'सूना घर' ग्रामीण जीवन की आर्थिक संरचना का भी चित्र दिखाता है। परदेश में रहने से घर पर कोई सुख नहीं रह जाता, घर सूना-सूना सा लगता है।

स्मृति का मनौवैज्ञानिक आयाम विरह-चेतना का एक रूप माना जाता है। स्मृति केवल एक याद नहीं होती, बल्कि वह भावनात्मक तुलना का साधन बन जाती है। अतीत में बिताए सुख के पलों को जब कोई नायिका याद करती है तो वर्तमान का अकेलापन और अधिक तीव्र रुप ग्रहण कर लेता है। स्मृति यहाँ भावनात्मक तीव्रता का प्रमुख साधन बन जाती है।

"पिछली होरी खेली संग पिया,
हँसत रहिन दिन रात।
अबकी होरी सूनी लागे,
भीज गइन सब बात।"[9]

इस गीत में स्मृति की महत्वपूर्ण भूमिका है। नायिका पिछले वर्ष की होली को याद करती है, जब वह अपने प्रिय के साथ थी। वह हमेशा दिन-रात हँसती-खेलती रही थी। लेकिन इस साल की होली उसे सूनी-सूनी सी लग रही, क्योंकि इस साल उसका प्रिय उसके साथ नहीं है। यहाँ अतीत और वर्तमान का विरोधाभास नायिका की पीड़ा को और अधिक गहरा कर देता है।

बिरह का एक अन्य रूप प्रतीक्षा का भाव भी है। स्त्रियाँ अपने पति की प्रतिक्षा करते हुए अपना जीवन बिता रही हैं। यहाँ प्रतीक्षा केवल समय का बीतना नहीं है, बल्कि आशा और निराशा के बीच का संघर्ष है। आशा इस बात की है कि उसका प्रिय आनेवाला होता है और निराशा इस बात की है कि उसका पति अभी तक नहीं आया है। इस निराशा को निम्न पंक्ति के माध्यम से समझ सकते हैं-

"राह निहारत अखियन थकीं,
पिया न आए फाग।"
"फागुन बीतत जात है सखी,
पिया न आए गाँव।"[10]

इस गीत में हम देखते हैं कि नायिका, नायक की प्रतीक्षा कर रही है, वह राह निहारते-निहारते इतना थक गई है कि उसकी आँखें भी हार मान चुकी हैं। फागुन का महीना भी बीता जा रहा है, लकिन उसका प्रिय अभी भी गाँव नहीं आया है। इस तरह प्रतीक्षा का विरह निराशा का भाव पैदा करता है।

अवधी फाग गीतों में विरह का एक अन्य रुप रात के समय उजागर होता है। अक्सर स्त्रियाँ रात में अकेलेपन के कारण चैन से सो नहीं पातीं, उन्हें अपने प्रिय की याद हमेशा सताती रहती है। इसका उदाहरण देखें तो-

"निंदिया नाहीं आवत सखी,
पिया बिना फागुन।"[11]

नायिका अपनी सखी से कहती है कि 'हे सखी! मुझे रात में अब नींद नहीं आती है। इस फागुन मास में बिना पति के परेशान हो रही है।' यहाँ विरह के कारण नायिका की बेचैनी दिखाई देती है।

निष्कर्ष: अवधी फाग गीतों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि इन गीतों का बाह्य स्वरूप उत्सवधर्मी है, किंतु उनके भीतर विरह की मार्मिक संवेदना अत्यंत सशक्त रूप में उपस्थित है। फाल्गुन और होली के अवसर पर गाए जाने वाले ये गीत एक ओर प्रकृति के नवोन्मेष, रंगों के उल्लास और सामूहिक आनंद का चित्र प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरी ओर वे मानवीय हृदय की गहरी पीड़ा और वियोग की अनुभूति को भी अभिव्यक्त करते हैं। इसी कारण फाग गीतों में उत्सव और विरह का एक अद्वितीय द्वंद्व दिखाई देता है।

इन गीतों के पाठ-विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि विरह-चेतना केवल व्यक्तिगत भावनात्मक अनुभव नहीं है, बल्कि यह लोकजीवन की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से भी गहराई से जुड़ी हुई है। पारंपरिक ग्रामीण समाज में पुरुषों का रोज़गार अथवा अन्य कारणों से परदेश जाना सामान्य था, जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों को लंबे समय तक वियोग का अनुभव करना पड़ता था। इस सामाजिक यथार्थ ने लोकगीतों में विरह की अनुभूति को गहन और व्यापक बनाया। अवधी फाग गीतों में विरह की अभिव्यक्ति मुख्यतः स्त्री-अनुभव के माध्यम से सामने आती है। इन गीतों में स्त्री की भावनाएँ- प्रेम, प्रतीक्षा, स्मृति, पीड़ा और आशा- अत्यंत स्वाभाविक और मार्मिक रूप में व्यक्त होती हैं। लोकगीत स्त्रियों के लिए भावनात्मक अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन जाते हैं, जिनके माध्यम से वे अपने मन की संवेदनाओं को सामूहिक रूप से व्यक्त करती हैं। इस प्रकार फाग गीत स्त्री-मन की गहन संवेदनात्मक दुनिया को समझने का एक महत्वपूर्ण स्रोत भी हैं।

संदर्भ:

1. उपाध्याय डॉ० कृष्णदेव, हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, षोडश भाग, हिंदी का लोकसाहित्य, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ-167
2. वहीं पृष्ठ-167
3. शुक्ल, रामचंद्र, चितामाण भाग-1, लोकभारती प्रकाशन, सत्रहवाँ संस्करण, 2021, पृष्ठ - 45
4. त्रिपाठी रामनरेश, ग्रामगीत, प्रयाग हिंदी सम्मेलन, पृष्ठ-118
5. उपाध्याय कृष्णदेव- संपादक अवधी लोकगीत, साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड, वाराणसी. पृष्ठ - 173
6. पाण्डेय इंदुप्रकाश, अवधी लोकगीत, लोकभारती प्रकाशन. इलाहाबाद, पृष्ठ-92
7. उपाध्याय कृष्णदेव, उत्तर भारत के लोकगीत, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ - 205.
8. त्रिपाठी रामनरेश, ग्रामगीत, प्रयाग हिंदी सम्मेलन, पृष्ठ 101.
9. वही, पृष्ठ -123
10. उपाध्याय कृष्णदेव, उत्तर भारत के लोकगीत, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ - 212
11. पाण्डेय इंदप्रकाश. अवधी लोकगीत लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ-93

◆शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. : 6392679620
ई.मेल : 0rahulpatel9169@gmail.com



'कोणार्क' नाटक और 'कोणार्क' खंडकाव्य : एक तुलनात्मक अध्ययन

◆डॉ.धन्या बी

"All higher knowledge is gained by Comparison and rests on comparison."

शोध-सार: तुलनात्मक शोध का मतलब यह है कि किन्हीं दो रचनाओं, लेखकों, काव्यान्दलनों या किन्हीं अन्य साहित्यक पक्षों को लेकर एक ही भाषा अथवा दो भाषाओं के स्तर पर किया जानेवाला शोध।

साहित्य में एक ही ऐतिहासिक या सांस्कृतिक प्रतीक को भिन्न-भिन्न विधाओं में अलग-अलग दृष्टिकोणों से व्याख्यायित किया जाता है।

ओडिशा का प्रसिद्ध सूर्य मंदिर 'कोणार्क' भारतीय शिल्पकला, त्याग, और त्रासदी का एक ऐसा ही जीवंत प्रतीक है। प्रस्तुत शोध-आलेख में आधुनिक हिंदी साहित्य के दो मूर्धन्य साहित्यकारों-नाटककार जगदीश चंद्र माथुर और कवि रामेश्वर दयाल दुबे-द्वारा रचित 'कोणार्क' शीर्षक कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जहाँ माथुर जी का 'कोणार्क' नाटक, शिल्पकार विशु, उसके पुत्र धर्मपद और तत्कालीन सत्ता के संघर्ष के माध्यम से कलाकार की स्वतंत्रता और सृजन की त्रासदी को रूपायित करता है, वहीं रामेश्वर दयाल दुबे का 'कोणार्क' खंडकाव्य काव्यमयी संवेदना, राष्ट्रीय चेतना और मानवीय नियति के द्वंद्व को छंदबद्ध अभिव्यक्ति देता है। यह शोध दोनों विधाओं के कथ्य, शिल्प, चरित्र-योजना और वैचारिक संदेश का विश्लेषण कर दोनों कृतियों की महत्ता को रेखांकित करता है।

मुख्य शब्द: कोणार्क, जगदीश चंद्र माथुर, रामेश्वर दयाल दुबे, तुलनात्मक अध्ययन, नाटक, खंडकाव्य, धर्मपद, विशु।

1. प्रस्तावना

साहित्य और कला एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब कोई जीवंत कलाकृति किसी साहित्यकार की चेतना को झंकृत करती है, तो एक नई साहित्यिक रचना का जन्म होता है। ओडिशा के पुरी जिले में स्थित 13 वीं शताब्दी का 'कोणार्क सूर्य मंदिर' केवल पत्थरों का ढाँचा नहीं है, बल्कि वह भारतीय मनीषा, उत्सर्ग और कलात्मक पराकाष्ठा का महाकाव्य है। किंवदंती है कि बारह सौ शिल्पकारों ने बारह वर्षों तक अथक परिश्रम कर इस मंदिर का निर्माण किया, किंतु जब इसके 'त्रिपटधर' को स्थापित करने में सब असफल रहे, तब मुख्य शिल्पकलाकार विशु के 12 वर्षीय पुत्र धर्मपद ने इस चुनौती को स्वीकार किया। उसने मंदिर को पूर्ण किया, परंतु सारा श्रेय धर्मपद को जाता देखकर सभी शिल्पगण क्रोधित होते हैं। वे धर्मपद की हत्या करना चाहते हैं। धर्मपद समुद्र में रात्रि के अंधकार में सदा के लिए विलीन हो जाता है।

इसी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आख्यान को आधार बनाकर जगदीशचंद्र माथुर ने 1951 में अपने कालजयी नाटक 'कोणार्क' की रचना की। इसके कुछ समय पश्चात् 1961 में, रामेश्वर दयाल दुबे ने इसी भावभूमि पर 'कोणार्क' खंडकाव्य का सृजन पाँच सर्गों में रचा। इसका कथानक भी नाटक के समान ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। प्रस्तुत आलेख इन दोनों विधाओं के साम्य और वैषम्य का उद्घाटन करता है।

2. दोनों कृतियों का संक्षिप्त परिचय एवं कथानकः

क) जगदीश चंद्र माथुर का 'कोणार्क' (नाटक)-

माथुर जी का नाटक तीन अंकों में विभाजित है। यह केवल अतीत का यांत्रिक दोहराव नहीं है, बल्कि इसमें आधुनिक बोध, कलाकार और सत्ता का संघर्ष तथा वैयक्तिक चेतना की प्रधानता है। नाटक की शुरुआत मंदिर के पूर्ण होने की अंतिम वेला से होती है। उत्कल नरेश नरसिंह देव युद्ध में व्यस्त हैं और महामात्य चालूक्य अपनी कूटनीतिक चालों से कलाकारों का शोषण कर रहा है। प्रधान शिल्पी विशु मानसिक द्वंद्व में है। तभी उसका पुत्र धर्मपद, जिससे वह अपरिचित है, एक साधारण पाषाण-शिल्पी के रूप में प्रवेश करता है और मंदिर के शीर्ष-भाग में 'त्रिपटधर' जोड़ने की समस्या का समाधान करता है। अंततः सत्ता के दमन और कलाकारों के विद्रोह के बीच एक त्रासदी घटित होती है।

"यह मंदिर केवल पत्थरों का ढेर नहीं है विशु! यह उत्कल के स्वाभिमान की साक्षात् प्रतिमा है, जिसे तुम्हारे और तुम्हारे साथियों के रक्त-पसीने ने सींचा है।"[2]

ख) रामेश्वर दयाल दुबे का 'कोणार्क' (खंडकाव्य)

दुबे जी ने इस आख्यान को पद्य की कोमल और प्रवाहपूर्ण विधा 'खंडकाव्य' के रूप में ढाला है। खंडकाव्य की प्रकृति के अनुकूल इसे पाँच सर्गों में

विभाजित किया गया है। मुख्य रूप से धर्मपद के त्याग, उसकी माता का वात्सल्य और विशु के पश्चाताप व गौरव को काव्यात्मक गरिमा प्रदान की गई है। इसमें दृश्यात्मकता के स्थान पर भावात्मकता और रसयोजना-करुण, वीर और अद्‌भुत रस-पर अधिक बल दिया गया है।माखनलाल चतुर्वेदी के अनुसार –

प्रस्तुत आलेख इन दोनों विधाओं के साम्य और वैषम्य का उद्घाटन करता है।3

3. तुलनात्मक अध्ययन के मुख्य बिंदु

दोनों कृतियों का तुलनात्मक विश्लेषण निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है:

3.1 कथ्य और वैचारिक दृष्टिकोण

नाटक के तीन अंक हैं। कोणार्क के कथासूत्र के बारे में स्वयं माथुरजी लिखते हैं कि-

"मैं ने उसका रूप इस नाटक में इतना बदल दिया है कि शायद वे उसे पहचान भी न पायें और रुष्ट भी हों कि क्यों मैंने एक ललित और करुण रस से पगी कहानी को इस रौद्र रूप में प्रदर्शित किया है.... मुझे उस किंवदंती के करुण लालित्य ने आकृष्ट अवश्य किया, किन्तु जिस विशाल और पुष्ट कल्पना का कोणार्क मंदिर परिचायक है और जिस संघर्ष प्रधान युग में उसका निर्माण हुआ - उसके मुकाबले में मुझे उड़िया किंवदंती के भावुक और विवश नायक-नायिका क्षीण जाँचे.... मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौंदर्य सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खंडन के क्षणों फूट निकला हो। चिरंतन मौन जो जिसका अभिशाप है उस पौरुष को मैंने वाणी देने की धृष्टता की है।"[4]खंडकाव्य पाँच सर्गों में समाप्त हो जाता है। 'कोणार्क' नाटक शिल्पी विशु से प्रारंभ होता है, लेकिन खंडकाव्य का प्रारंभ राजा नरसिंहदेव से होता है, जो अपनी माँ की स्मृति में लीन हैं।

"उसके आँचल में ममता का मीठा दूध भरा है।

दृग-जल में उसकी करुणा का मधुर रूप निखरा है।"[5]

दोनों रचनाओं की कथावस्तु में एक बहुत बड़ा वैषम्य यह है कि नाटक में विशु धर्मपद की माँ सारिका से प्रेम करता था, किन्तु शादी नहीं की थी। नाटक के अंतिम अध्याय में ही दोनों समझते हैं कि उन दोनों के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध है।

इस तरह "इतिहास को पीठिका पर रखकर व्यक्ति और समाज का अनेक स्तरीय मूल्यांकन करने के कारण 'कोणार्क' स्वातंत्र्योत्तर काल का सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त नाट्य-प्रयोग है, जिसमें वस्तु और शिल्प-दोनों ही स्तरों पर प्रयोग किए गए हैं।"[6]

'कोणार्क' एक दुःखान्त नाटक है जिसमें नाटककार ने प्रायः सभी मुख्य पात्रों के निधन के साथ ही अपूर्व कलाकृति सूर्यमंदिर को भी ध्वस्त होते दर्शाया है। शिल्पियों के युग-युग से मौन पौरुष को वाणी देना उनका मुख्य उद्देश्य था। इसलिए उन्होंने नाटक को इस रीति से नियोजित किया कि वह शिल्पी के प्रतिशोध का नाटक साबित हो। इसमें काव्यत्व के गुण भी भरपूर मात्रा में है। " इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है इसका काव्यत्व, जो प्रसाद की तरह नाटकों पर हावी न होकर कथावस्तु, नाट्य स्थितियाँ और रचनातंत्र के भीतर से निकलता है।"[7]

नाटक के विरुद्ध खंडकाव्य में धर्मपद की माँ के रूप में चन्द्रलेखा को चित्रित किया गया है। विशु और चन्द्रलेखा के बीच पति-पत्नी का सम्बन्ध था। पत्नी और पुत्र को घर में रखकर ही विशु मंदिर निर्माण के लिए जाता है। जाते वक्त पत्नी बहुत दुखी होती है, वह कहती है कि-

"मेरे प्राण! त्राण क्या मुझको दे न सकोगे बोलो।

एक अभागिन अबला को अवलंब न दोगे बोलो।"[8]

पति वियोग से दुःखित माँ के आँसू धर्मपद देख नहीं सकता। इसलिए पिता को वापस लाने के लिए वह चला जाता है। खंडकाव्य में धर्मपद को पहले ही मालूम था कि विशु उसका पिता है। लेकिन बारह वर्ष बाद अपने पुत्र को देखकर विशु ने उसे पहचान न पायी। नाटक की कथावस्तु से पता चलता है कि

राजाज्ञा सुनकर मंदिर की पूर्ति के लिए त्रिपटधर स्थापित करने में ही धर्मपद मंदिर पहुँचता है। लेकिन खंडकाव्य में धर्मपद के मन में मंदिर बनवाने से अधिक अपने पिता को देखने की इच्छा और उन्हें अपनी माँ के पास ले जाने की अभिलाषा थी। इसलिए वह मंदिर-निर्माण की समस्या बताकर वहाँ पहुँचता है। खंडकाव्य में पति-पुत्र वियोग से बिलखती चन्द्रलेखा की करुण कथा अधिक उभरकर आती है। लेकिन नाटक में विरहिणी नायिका का उतना मार्मिक वर्णन नहीं है। नाटक के विरुद्ध खंडकाव्य में दुखांत पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि व्यक्तिगत सम्बन्धों को भी अधिक प्रधानता दी गई है। नाटक में देशभक्ति, कलाकार का दायित्व, प्रतिशोध आदि की प्रधानता दी गयी है।नाटक की भूमिका में माथुरजी ने व्यक्त किया है कि-

"यह सही है कि व्यक्तिगत वैषम्य के साथ सामाजिक समस्याओं का गठन मैं ने किया है।"[9]

-(कोणार्क-जगदीशचंद्र माथुर-भूमिका)

नाटक में युद्ध का वर्णन किया गया है। लेकिन खंडकाव्य में नाटक की तरह युद्ध का सजीव वर्णन नहीं मिलता है। 'कोणार्क' नाटक और 'कोणार्क' खंडकाव्य की कथावस्तु में एक बड़ा वैषम्य यह है कि नाटक के अंत में राष्ट्र के कूटनीतिज्ञों के विरुद्ध लड़कर एक सच्चे देशभक्त की तरह धर्मपद मृत्यु का वरण करता है और अपने पुत्र की हत्या के प्रतिशोध में मंदिर तोड़कर षड्यंत्रकारियों को मारकर विशु भी स्वयं मृत्यु का आलिंगन करता है। लेकिन खंडकाव्य के अंत में धर्मपद शिल्पियों की ईर्ष्या के कारण अपने पिता को परेशानी में देखकर स्वयं समुद्र में डूब जाता है और विशु भी अंत में पुत्र की राह लेता है।

3.1.1 **कला बनाम सत्ता का संघर्ष (नाटक):**

माथुर जी के नाटक का मूल स्वर राजनीतिक और सामाजिक है। यहाँ कोणार्क का मंदिर 'कलाकार की अस्मिता' का प्रतीक है। चालुक्य अत्याचारी सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है, जो कलाकारों को बंधुआ मज़दूर समझता है। माथुर जी दिखाते हैं कि कला जब सत्ता के अधीन होती है, तो उसका दम घुटने लगता है।

3.1.2 **भावुकता और राष्ट्रीय गौरव (खंडकाव्य):**

रामेश्वर दयाल दुबे के खंडकाव्य के मुख्य स्वर सांस्कृतिक गौरव और आत्मोसर्ग हैं। यहाँ धर्मपद का बलिदान देश की प्रतिष्ठा और शिल्पियों के मान की रक्षा के लिए है। दुबे जी की दार्शनिकता और नियतिवाद का प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

3.2 **चरित्र-चित्रण की तुलना**

दोनों कृतियों के मुख्य पात्र विशु और धर्मपद ही हैं, परंतु उनके चरित्र उभरने के ढंग में सूक्ष्म अंतर है। जगदीशचंद्र माथुर के नाटक में प्रधान शिल्पी 'विशु' एक गहन अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त कलाकार के रूप में चित्रित है, जो शुरुआत में सत्ता के आगे विवश दिखाई देता है, किंतु अंत में अपनी कलात्मक चेतना के कारण विद्रोह का झंडा बुलंद करता है। इसके विपरीत, रामेश्वर दयाल दुबे के खंडकाव्य में 'विशु' का चरित्र एक अत्यंत भावुक पिता और समर्पित शिल्पी का है, जिसके भीतर आत्मग्लानि और कलात्मक गर्व का अनूठा मिश्रण काव्यात्मक रूप में व्यक्त हुआ है।

नायक 'धर्मपद' के चित्रण में भी यह विधागत अंतर स्पष्ट झलकता है। नाटक का धर्मपद युवा चेतना, सामाजिक क्रांति और तकनीकी मेधा का प्रतीक है, जो केवल एक शिल्पी न रहकर शोषित शिल्पकारों का नेतृत्व करने वाला नेता बनकर उभरता है। वहीं, खंडकाव्य का धर्मपद एक दैवीय प्रतिभा संपन्न, आज्ञाकारी और देश-भक्ति पर प्राण न्योछावर करने वाले आदर्श पौराणिक नायक की तरह प्रतीत होता है। जहाँ तक प्रतिनायक (खलनायक) चालुक्य का प्रश्न है, माथुर जी के नाटक में वह एक क्रूर, कूटनीतिक और व्यवस्था के दमन को दिखाने वाला प्रखर पात्र है, जबकि दुबे जी के खंडकाव्य में अमात्य का चरित्र उतना मुखर नहीं है, क्योंकि वहाँ कवि का मुख्य ध्यान व्यवस्था की क्रूरता से अधिक धर्मपद के उदात्त त्याग पर केंद्रित रहा है।

3.3 **शिल्प, भाषा और शैली का वैषम्य**

3.3.1 **नाट्य शिल्प:**

माथुर जी ने रंगमंचीयता, दृश्य-परिवर्तन, वातावरण, प्रकाश-योजना और संवादों के माध्यम से तीव्र कौतूहल और नाटकीयता पैदा की है। संवाद संक्षिप्त, तीखे और गद्य में होने के बावजूद काव्यात्मक गरिमा से युक्त हैं। विशु द्वारा ही भुवनेश्वर एवं जगन्नाथपुरी में कई मंदिरों के निर्माण की सूचना नाटक में दी गयी है। इस विषय में 'कोणार्क' नाटक के परिचय के अंतर्गत माथुर जी ने लिखा भी है - "ईसा की सातवीं शती से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल भव्य और कलापूर्ण मंदिरों का निर्माण हुआ जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में स्थित है।"[10]

3.3.2 **काव्य शिल्प**

दुबे जी ने खड़ीबोली हिंदी के परिष्कृत रूप का प्रयोग किया है। उनके छंदों में गेयता और तरलता है। दृश्यों का वर्णन उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों के माध्यम से और करुण रस से अत्यंत सजीव बन पड़ा है।खंडकाव्य में उत्प्रेक्षा अलंकार देख सकते हैं -

"नव-नव शिला खण्ड पर उसने कोई आकृति झांकी।

जड़ को जड़ता मिटी, सचेतन मूर्ति उछक कर झांकी।"[11]

भाषा के अंतर्गत उपलब्ध रस संयोजन में कोणार्क नाटक और कोणार्क खंडकाव्य में करुणापूर्वक अंत होता है तो भी 'कोणार्क' नाटक में करुण रस की अपेक्षा वीर रस ही अधिक है। लेकिन'कोणार्क' खंडकाव्य में करुण रस प्रमुख रस के रूप में आता है। यथा-

“जीवन भर वियोग में ही तो उसके दिन हैं बीते।

आँसू इतने झरे कि उसके नयन युगल हैं रीते।”[12]

4. **वैचारिक साम्य और वैषम्य: उद्धरणों के प्रकाश में**

4.1 **कला की महत्ता पर दोनों के विचार**

माथुर जी के नाटक में विशु कला को अपनी आत्मा मानता है। जब चालुक्य मंदिर को ध्वस्त करने की धमकी देता है, तो विशु कहता है -

"पाषाण के इन खंडों में जो प्राण फूंके गए हैं, उन्हें कोई तलवार नहीं काट सकती महामात्य! कला अमर है।"[13]

यही भाव दुबे जी के खंडकाव्य में काव्यात्मक सौंदर्य के साथ प्रकट होता है, जहाँ पत्थरों की जीवंतता का वर्णन इस प्रकार है:

"सजीव हो उठे शिला-खंड सब, शिल्पकार की छैनी पाकर,

मूक पाषाण भी बोल उठे हैं, मानव का अनुराग पाकर।"[14]

4.2 **धर्मपद का आत्मोसर्ग**

दोनों कृतियों का चरमोत्कर्ष धर्मपद की मृत्यु है, लेकिन दोनों के उद्देश्य और प्रस्तुति में सूक्ष्म अंतर हैं:

4.2.1 **नाटक में**:

माथुर जी के नाटक में धर्मपद का अंत केवल एक किंवदंती की पूर्ति नहीं है। जब चालुक्य की सेना मंदिर पर आक्रमण करती है, तो धर्मपद और अन्य शिल्पी मंदिर की रक्षा के लिए शस्त्र उठा लेते हैं। अंत में, मंदिर के कलश से कूदकर धर्मपद प्राण दे देता है ताकि राजा और महामात्य यह समझ सके कि शिल्पी अपनी कृति को नष्ट भी कर सकता है। यह एक 'क्रांतिकारी आत्मोसर्ग' है।

4.2.2 **खंडकाव्य में:**

दुबे जी के यहाँ यह दृश्य अत्यंत कारुणिक और विधाता की नियति जैसा प्रतीत होता है। धर्मपद अपने साथी शिल्पियों की लाज बचाने के लिए चुपचाप समुद्र में समा जाता है। कवि लिखते हैं-

"डूब गया वह कला-सूर्य, चंद्रभागा की लहरों में जाकर,

अमर कर गया बारह सौ शिल्पी, अपना लघु जीवन देकर।"[15]

5 **दोनों कृतियों की प्रासंगिकता और संदेश**

जगदीशचंद्र माथुर का नाटक आधुनिक युग के 'बुद्धिजीवी और व्यवस्था के टकराव' को दर्शाता है। आज भी जब व्यवस्था कलाकारों, लेखकों और विचारकों की स्वतंत्रता को बाधित करती है, तो माथुर का 'कोणार्क' प्रासंगिक हो उठता है।

दूसरी ओर, रामेश्वर दयाल दुबे का खंडकाव्य हमें अपनी जड़ों, संस्कृति और नैतिक मूल्यों से जोड़ता है। यह रचना युवा पीढ़ी को संदेश देती है कि कला और मेधा का उपयोग व्यक्तिगत ख्याति के लिए नहीं, बल्कि समष्टि (समाज और राष्ट्र) के कल्याण और सम्मान के लिए होना चाहिए।

6. **निष्कर्ष**

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जगदीश चंद्र माथुर का 'कोणार्क' और रामेश्वर दयाल दुबे का 'कोणार्क' एक ही कथानक के दो भिन्न और समृद्ध ध्रुव हैं।फिर भी कलापक्ष और शिल्पपक्ष के अंतर्गत अनेक साम्य और वैषम्य दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ माथुर जी का नाटक 'द्वंद्व, विद्रोह और बौद्धिक चेतना' का दस्तावेज़ है, वहीं दुबे जी का खंडकाव्य 'करुणा, समर्पण और सौंदर्यपरक अभिव्यक्ति' का उत्कृष्ट उदाहरण है। विधागत भिन्नता के बावजूद, दोनों ही कृतियाँ हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं, जो कोणार्क के पत्थरों में छिपे मानवीय रक्त और कला के शाश्वत सत्य को प्रदीप्त करती हैं।

आधार ग्रंथः

1. कोणार्क (नाटक),जगदीश चंद्र माथुर राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1951

2. कोणार्क (खंडकाव्य),रामेश्वर दयाल दुबे, राजपाल एंड संस, दिल्ली, संस्करण 1992.

सहायक ग्रंथः

1 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - बच्चनसिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986।

2 आधुनिक हिन्दी खंडकाव्य - डॉ. एस. तकमणी अम्मा, सूर्यप्रकाशन, दिल्ली, 1987।

3 आधुनिक हिन्दी काव्य - डॉ. सादिक देसाई, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, 1999।

4 आधुनिक काव्यकला और दर्शन - डॉ. राममूर्ती त्रिपाठी, साहित्य सदन, इलाहाबाद, 1973।

5 आधुनिक काव्यबोध और परंपरा - सं. डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश, राजस्थान साहित्य अकादमी, 1970।

6 काव्य के रूप - डॉ. गुलाबराय, आत्माराम एण्ड सन्स, 1989।

7 काव्य प्रयोग - रामबहोरी शुक्ल, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1958।

8 जिन्होंने जीना सीखा - जगदीशचन्द्र माथुर, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1968।

9 जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्य सृष्टि - डॉ. नरनारायण राय, कादम्बरी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1988।

10 दशरथ नंदन - जगदीशचन्द्र माथुर, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1974।

11 नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - गोविन्द चातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973।

12 पहला राजा - जगदीशचन्द्र माथुर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, 1985।

13 प्रयोगधर्मी नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर - मीनाक्षी काला, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983।

14 प्रसादोत्तर नाटक में राष्ट्रीय चेतना - डॉ. मंजुला दास, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991।

15 बोलते क्षण - जगदीशचन्द्र माथुर, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1968।

16 भारतीय नाटक एवं रंगमंच - सं. जगदीश चतुर्वेदी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली, 1990।

17 भाषा विज्ञान - डॉ. भोलानाथ तिवारी, किताब महल, नई दिल्ली, 1951।

18 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान - डॉ. जगदीशप्रसाद कौशिक, साहित्यागार, जयपुर, 1988।

19 मलयालम के खंडकाव्य - एस. तकमणी अम्मा, कोच्चिन, 1974।

20 समकालीन हिन्दी नाटक - डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया, पंकज पुस्तक मंदिर, नई दिल्ली, 1992।

21स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक - डॉ. रामजन्म शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1985।

22 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक: मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में - डॉ. रीताकुमार, भूमिका प्रकाशन, 1991।

23 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-गीतिकाव्य का शिल्प विधान - डॉ. रामसिंह अत्रि, सुधाकमल ग्रन्थालय, 1984।

24हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - डॉ. दशरथ ओझा, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1991।

25 हिन्दी नाटकों में विद्रोह की परंपरा - डॉ. किरणचन्द्र शर्मा, विचार प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991।

26 हिन्दी साहित्य का इतिहास - संपादक, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980।

27 हिन्दी के आराधक रामेश्वर दयाल दुबे - सं. डॉ. त्रिभुवन नाथ शर्मा 'मधु', अल्पना, उत्तर प्रदेश1992।

संदर्भः

1 Introduction to the Science of Religion: Four Lectures Delivered at the Royal Institution-वर्ष 1873 पृ,13 Max Muller

2 कोणार्क, (नाटक), जगदीश चंद्र माथुर राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1951

अंक 1, पृ,27

3 हिन्दी के आराधक रामेश्वर दयाल दुबे - डॉ.त्रिभुवननाथ शर्मा 'मधु', हिंदुस्तानी एकादमी, इलाहाबाद, 2022, पृ. 58

4 कोणार्क (नाटक) परिचय, जगदीश चंद्र माथुर राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1951

5 कोणार्क (खंडकाव्य), रामेश्वर दयाल दुबे, राजपाल एंड संस, दिल्ली, संस्करण 1992,पृ.81

6 आधुनिक हिंदी नाटक- सुरेशचंद्र शुक्ल-लिपि प्रकाशन,दिल्ली , वर्ष- 1981,पृ.88

7 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक: मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में - डॉ. रीता कुमार, भूमिका प्रकाशन,दरियागंज दिल्ली,1991, पृ.24

8 कोणार्क- (खंडकाव्य), रामेश्वर दयाल दुबे - राजपाल एंड संस, दिल्ली, संस्करण 1992,पृ.81

9 कोणार्क-(नाटक) जगदीशचंद्र माथुर-भूमिका राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1951

10 कोणार्क-(नाटक) जगदीशचंद्र माथुर-(परिचय),राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,1951, पृ11

11 कोणार्क -खंडकाव्य-रामेश्वर दयाल दुबे-- राजपाल एंड संस, दिल्ली, संस्करण 1992, पृ.52

12 वही, पृ.42

13 कोणार्क, नाटक, जगदीशचंद्र माथुर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,1951, नाटक-अंक 3 पृ.65

14 कोणार्क खंडकाव्य, रामेश्वर दयाल दुबे- सर्ग2– पृ.53

15 वही, अंतिम सर्ग, पृ.113-114

◆सहायक आचार्या, विभागाध्यक्षा
हिंदी विभाग, सरकारी कॉलेज आट्टिंगल
फोन-8921668255



स्कूली शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम 2023 ढाँचे के संदर्भ में स्वदेशी ज्ञान प्रणाली का उपयोग करते हुए किशोरों का सर्वांगीण विकास

◆ डॉ. पायल आर. भाटिया ◆◆ डॉ. रिंकू आर. भाटिया

सारांश: भारतीय ज्ञान प्रणाली प्राचीन प्रथाओं, दर्शन और समग्र शिक्षण पद्धतियों में निहित शिक्षा की एक समृद्ध परंपरा को समाहित करती है। यह योग, आयुर्वेद, गणित, खगोल विज्ञान, साहित्य और कला जैसे विषयों के माध्यम से व्यक्ति मन, शरीर और आत्मा—के एकीकृत विकास पर ज़ोर देती है। भारतीय शिक्षा ऐतिहासिक रूप से समुदाय-केंद्रित रही है, जो युवाओं में सहयोग, नैतिक चरित्र और व्यावहारिक कौशल के मूल्यों को बढ़ावा दे रही है। उदाहरण के लिए, गुरुकुल प्रणालियों ने अनुभवात्मक शिक्षा को प्रोत्साहित किया जहाँ छात्र शिक्षकों के साथ रहते थे; अवलोकन, चर्चा और अभ्यास के माध्यम से ज्ञान ग्रहण करते थे। आधुनिक शिक्षा में भारतीय पारंपरिक ज्ञान का समावेश स्थायी प्रथाओं, सांस्कृतिक विरासत और स्थानीय ज्ञान को उजागर करता है जो समकालीन चुनौतियों के लिए प्रासंगिक हैं। हस्तशिल्प और कृषि-आधारित शिक्षा जैसी स्वदेशी प्रथाओं को शामिल करके, स्कूल किशोरों की शिक्षा को अधिक समावेशी, आकर्षक और प्रासंगिक रूप से सार्थक बना सकते हैं, खासकर ग्रामीण और आदिवासी समुदायों के लिए। शिक्षा की ऐसी अच्छी प्रथाएँ सांस्कृतिक संरक्षण और जीवन कौशल सुनिश्चित करती हैं, और समाज में योगदान देने में सक्षम सर्वांगीण व्यक्तियों का पोषण करती हैं।

मुख्य शब्द: समकालीन, भारतीय ज्ञान प्रणाली (आई के एस), स्वदेशी प्रथा, व्यक्तियों का पोषण।

प्रस्तावना: वैदिक गणित, रंग प्रौद्योगिकी, ढलाई प्रौद्योगिकी आदि में भारतीय ज्ञान प्रणाली के अंग के रूप में कई समकालीन अवधारणाओं के संकेत मिलते हैं। सांख्य दर्शन समकालीन विज्ञान से समानता दर्शाता है। आई के एस सतत जीवन के लिए बहुमूल्य अंतर्दृष्टि भी प्रदान करता है। वेद और पुराण जैसे प्राचीन भारतीय ग्रंथ पारिस्थितिक संतुलन और सभी जीवों के परस्पर संबंध पर चर्चा करते हैं। ये सिद्धांत आज की दुनिया में, जो जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय क्षरण जैसी समस्याओं का सामना कर रही है, अत्यधिक प्रासंगिक हैं। स्वदेशी शिक्षा विशेष रूप से औपचारिक या अनौपचारिक शिक्षा-प्रणाली के भीतर स्वदेशी ज्ञान, मॉडल, विधियों और विषयवस्तु को पढ़ाने पर केंद्रित है। स्वदेशी ज्ञान अध्ययन का एक उभरता हुआ क्षेत्र है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से हस्तांतरित होने वाले जानने, देखने और सोचने के तरीके पर केंद्रित है। समझने के ये तरीके कृषि, शैक्षिक प्रणाली, चिकित्सा और प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन और कई अन्य श्रेणियों, जैसे- विषयों में हज़ारों वर्षों के प्रयोग और नवाचार को दर्शाते हैं। प्राचीन भारत में शिक्षा का एक प्रमुख केंद्र चरित्र विकास के लिए शिक्षा रहा है, जहाँ मूल्यों के रोपण ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वर्तमान समय में, सभी सुखों के बावजूद, कई लोग खालीपन और नाखुशी की भावना से ग्रस्त हैं, जिसका उत्तर हमारे प्राचीन शास्त्रों में पाया जा सकता है। उस समय के पाठ्यक्रम और शिक्षण पद्धति ने शिक्षार्थियों के समग्र विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। शिक्षकों और छात्रों ने 'गुरु-शिष्य परंपरा' में एक व्यक्तिगत तालमेल साझा किया। छात्रों की आवश्यकताओं के अनुसार पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति और मूल्यांकन तय करने के लिए शिक्षकों को अत्यधिक स्वायत्तता थी। शिक्षा प्रकृति में विकेन्द्रीकृत और प्रासंगिक थी।

राष्ट्रीय पाठ्यक्रम 2023 में माध्यमिक स्तर की स्कूली शिक्षा के लिए अनुशंसित स्वदेशी ज्ञान प्रणाली:माध्यमिक शिक्षा, शिक्षा का वह चरण है जो

किशोरावस्था से सबसे अधिक निकटता से जुड़ी है। एन ई पी 2020 के अनुसार, माध्यमिक स्कूली शिक्षा नई स्कूली शिक्षा संरचना का अंतिम चरण है, जिसमें दो चरण शामिल हैं: कक्षा 9 और 10 तथा कक्षा 11 और 12। इसके अलावा, इस चरण में बहुविषयक शिक्षा शामिल है जिसमें अधिक आलोचनात्मक सोच, लचीलेपन और विषयों के चयन पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। इस प्रकार के विकास के लिए। एन सी एफ एस ई 2023 में माध्यमिक स्तर की स्कूली शिक्षा के लिए अनुशंसित स्वदेशी प्रथाएँ इस प्रकार हैं:

• माध्यमिक स्तर पर, छात्रों से अपेक्षा की जाती है कि वे भारत के विभिन्न भागों की कला परंपराओं से अपने कला अनुभव का विस्तार करें और भौगोलिक या सामाजिक संदर्भों के कारण समानताओं व अंतरों, तथा संभावित कारणों का विश्लेषण करें। वे अपनी शिल्पकला तकनीकों और विचार-निर्माण कौशल को निखारते हुए इस ज्ञान को अपनी कला साधना में भी लागू करेंगे।

•छात्र बीजगणित और निर्देशांक ज्यामिति जैसे उन्नत गणितीय विचारों में भारतीय गणितज्ञों के योगदान के बारे में जानेंगे।

• माध्यमिक स्तर पर, छात्रों को प्रमुख वैज्ञानिक खोजों और विचारों, जैसे- खगोल विज्ञान, चिकित्सा पद्धति, अंतरिक्ष अनुसंधान आदि में भारतीयों द्वारा किए गए योगदान से परिचित कराया जाएगा।

• छात्र भारत के अतीत को विस्तार से समझने और हमारी समृद्ध विविधता, संस्कृति, परंपराओं, साहित्य, दर्शन और ज्ञान प्रणालियों की सराहना करने के लिए गहन अध्ययन करेंगे।

• आधारभूत स्तर तक मातृभाषा या किसी परिचित भाषा में सीखने से छात्र अपनी सांस्कृतिक विरासत से जुड़े रहेंगे। R1, जो प्रायः क्षेत्रीय भाषा होती है, छात्रों को गहरी समझ और जुड़ाव बनाने में मदद करेगी। अन्य दो भाषाओं (R2 और R3) से परिचय छात्रों को बहुभाषी बनने, विविधता की सराहना करने और राष्ट्रीय पहचान बनाने में मदद करता है।

• खेल और शारीरिक गतिविधियाँ हमारी संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। ये हमें एक ही भावना से जोड़ती हैं। भारत में खेलों/शारीरिक गतिविधियों की बहुत समृद्ध विरासत है जो सभ्यताओं और सदियों में विकसित हुई है, जैसे- योग, जल क्रीड़ा, कुश्ती, मलखंभ, तीरंदाजी, रथ दौड़, बैल दौड़, पोलो, मार्शल आर्ट के विभिन्न रूप, नृत्य रूप, पासा खेल, लुका-छिपी और अनगिनत अन्य खेल/शारीरिक गतिविधियाँ।

इसलिए, एन सी एफ एस ई 2023 में माध्यमिक स्तर की स्कूली शिक्षा के लिए अनुशंसित स्वदेशी ज्ञान प्रदान करने के लिए, शिक्षा में निम्नलिखित रणनीतियों पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है:

• शिक्षा में समुदाय को शामिल करना:
  - शैक्षिक प्रक्रिया में माता-पिता, स्थानीय बुजुर्गों और समुदाय के सदस्यों को शामिल करें।
  - पाठ्यक्रम में सांस्कृतिक और स्वदेशी ज्ञान के एकीकरण का समर्थन करने के लिए स्थानीय समुदायों के साथ साझेदारी बनाएँ।
  - छात्रों को स्थानीय परंपराओं और प्रथाओं से परिचित कराने के लिए कार्यशालाएँ, अतिथि व्याख्यान और क्षेत्र भ्रमण आयोजित करें।
• कौशल विशेषज्ञों के साथ सहयोग:
  - स्वदेशी शिक्षण संसाधन बनाने के लिए स्थानीय कारीगरों, शिल्पकारों और पारंपरिक चिकित्सकों के साथ सहयोग करें।
  - सामग्री की प्रामाणिकता और प्रासंगिकता सुनिश्चित करने के लिए स्वदेशी ज्ञान प्रणालियों के विशेषज्ञों से मार्गदर्शन लें।
• संदर्भ-आधारित शिक्षण सामग्री विकसित करना:
  - एन सी एफ ई एस-2023 और एन सी ई आर टी की पाठ्यपुस्तकों के अनुरूप शिक्षण-अध्यापन सामग्री विकसित और प्रासंगिक बनाएँ।
  - सीखने को अधिक आकर्षक और प्रासंगिक बनाने

के लिए स्थानीय संदर्भ से वास्तविक जीवन के उदाहरणों और केस स्टडी का उपयोग करें।

- विशेष शिक्षक प्रशिक्षण:
  - शिक्षकों को उनके शिक्षण अभ्यासों में ऐ के एस को प्रभावी ढंग से एकीकृत करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण और संसाधन प्रदान करें।
  - शिक्षकों को नवीन और अनुभवात्मक शिक्षण विधियों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करें जो गहन अधिगम को बढ़ावा दें।
- ऐ के एस आधारित अधिगम पर ज़ोर:
  - ऐ के एस आधारित अधिगम, अर्थात् आलोचनात्मक चिंतन, समस्य-समाधान और रचनात्मकता पर ध्यान केंद्रित करें।
  - छात्रों को वास्तविक दुनिया के अधिगम अनुभवों का अन्वेषण, खोज और उनमें संलग्न होने के लिए प्रोत्साहित करें।

निष्कर्षः

स्वदेशी ज्ञान अपने विचारों और व्यवहारों में एक समग्र दृष्टिकोण पर ज़ोर देता है। यह व्यावहारिक जीवन से अलग या पृथक नहीं है। व्यक्तिगत व्यक्तित्व का निर्माण उनके इतिहास, मूल्यों, समारोहों, घटनाओं, कहानियों आदि सांस्कृतिक साधनों की सहायता से होता है। इस प्रकार, स्वदेशी लोग अपने ज्ञान के कर्ता हैं, न कि रोज़मर्रा के जीवन से अलग ज्ञान के निष्क्रिय भंडार। हालाँकि, ऐसे गैर- स्थानीय या गैर-स्वदेशी कारक भी हैं जो " स्थानीय स्वदेशी" ज्ञान के पुनर्निर्माण को प्रभावित करते हैं।

संदर्भ

1) अग्रवाल, पी. (2021). पारंपरिक भारतीय ज्ञान प्रणालियों के माध्यम से समग्र शिक्षा। जर्नल ऑफ इंडियन एजुकेशन, 47(3),123-135. Retrieved from https://rjpn.org/ijcspub/papers/IJCSP24C1037.pdf

2) भारद्वाज, ए. (2020). एनईपी 2020 के माध्यम से स्वदेशी ज्ञान प्रणालियों का पुनरुद्धार। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मल्टीडिसिप्लिनरी एजुकेशनल रिसर्च, 9(4), 123-130. Retrieved from https://rjpn.org/ijcspub/papers/IJCSP24C1037.pdf

3) बेहरा, एस. (2024). प्राचीन ज्ञान का पुनरुद्धार: शिक्षा की भारतीय अवधारणा। https://www.researchgate.net/publication/383952934_Retrieved from Reviving_Ancient_Wisdom_The_Bharatiya_Concept_of_Education.

4) चन्नावर, एस. (2022). समग्र विकास के लिए संकल्पनात्मक ढाँचा: एनईपी 2020. https://www.researchgate.net/publication/368662624_Conceptual_Framework_for_Holistic_Development_NEP_2020#full-text

5) एनसीएफएसई रिपोर्ट (2023). स्कूली शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2023.Retrieved fromhttps://www.nipccd.nic.in/uploads/pdf/NCFSE2023pdfdfdd21d44d36d05d39fbade99174f234.pdf#page=11.10

6) सिल्वा. सी. डी., पेरेडा, एफ., अमोरिम, जे. पी. (2023). स्कूल में स्वदेशी ज्ञान का एकीकरण: एक व्यवस्थित समीक्षा। Retrieved from https://www.tandfonline.com/doi/full/10.1080/03057925.2023.2184200#abstract

◆आसीस्टन्ट प्रोफेसर,
एम. बी. पटेल कॉलेज ऑफ एजुकेशन,
वल्लभ विद्यानगर, आनंद, गुजरात
मोबाइल: 9913561148
ईमेल: payalbhatia318@gmail.com

◆◆आसीस्टन्ट प्रोफेसर,
श्री भीखाभाई पटेल इंस्टीट्यूट ऑफ पी.जी.स्टडीज़ एंड रिसर्च इन ह्यूमेनिटीज़, आनंद,गुजरात



देश-विदेश में हिंदी की पहचान: चुनौतियाँ और संभावनाएँ

♦डॉ.कुमार भास्कर

शोध सार- हिन्दी ने संपर्क भाषा के रूप में भारत को एक सूत्र में पिरोया है। हिंदी भारतीय भाषाओं पर राज नहीं अपितु नेतृत्व करती है। वह सब के साथ है। हिंदी साझी संस्कृति की पहचान है। इसके बावजूद भारत में उसको वह मुकम्मल स्थान प्राप्त नहीं है, जो तुलनात्मक रूप से अपने देशों में अंग्रेजी, जर्मन, जापानी, फ्रेंच या मंदारिन को मिला है। स्थानीय संघर्षों से उलझी हुई हिंदी भाषा की अपनी खास पहचान और स्थान है। ज़्यादातर चुनौतियाँ यहीं पर हैं। यद्यपि हिंदी, भारत की अन्य भाषाओं पर थोपी नहीं गई है, तथापि अन्य भाषाओं को यह विश्वास दिलाना है कि, हिंदी की राष्ट्रीयता उनके विकास और सम्मान के साथ जुड़ा हुआ है। उसी तरह से हिंदी का सम्मान अन्य भारतीय भाषाओं की राष्ट्रीयता से जुड़ा हुआ है। हिंदी अन्य भारतीय भाषाओं के साथ अंतर्सम्बन्ध को वैश्विक स्तर पर ऐक्य की भावना से निर्वहण करती है।

बीज शब्द- भाषाई सौहार्द, भाषिक राष्ट्रीयता, भाषा नीति, क्षेत्रीय अस्मिता, भाषाई साम्राज्यवाद, बहुभाषिक संस्कृति ।

मूल आलेख- भाषिक नीति के तहत सरकारों की ज़िम्मेदारी हमेशा से किसी न किसी रूप में चलती रही है। अकादमिक स्तर पर एक दूसरे की भाषा को सिखाने का प्रयास, पास और फेल के मानदंडों से अलग रखकर किया जाए तो संभवतः कारगर साबित हो । भाषा सिखाने की बाध्यकारी नीति से क्षेत्रीय अस्मिता उसे थोपा हुआ मानती है। अपने देश की मानस स्थिति को समझते हुए व्यवहारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया में जब तक बढ़ोतरी नहीं होगी, तब तक भाषा विवाद की दूरियाँ कम नहीं हो पाएँगी। इसके लिए हिंदी पट्टी के मानस के मिज़ाज में गैर हिंदी भाषी संस्कृति और भाषा के प्रति लगाव होना अत्यंत आवश्यक है। वैसे आज के दौर में सोशल मीडिया और खासकर सिनेमा ने काफी हद तक इस दूरी को कम किया है। आज दक्षिण भारतीय बहुत सारे कलाकार और फिल्म, हिंदी पट्टी तो छोड़िए पूरे देश के चहेते बने हुए हैं। भाषाई विवाद का यह मसला राजनीतिक ज़्यादा रहा है और उत्तरोत्तर सांस्कृतिक समन्वय ने इसको कम किया है। लेकिन स्वार्थी राजनीतिक शक्तियाँ, सांस्कृतिक सौहार्द को एक दायरे तक सीमित कर देती हैं जिसकी वजह से भाषिक राष्ट्रीयता की भावना होते हुए भी आधिकारिक तौर पर स्थापित नहीं हो पाती है। क्षेत्रीय और राष्ट्रीय अस्तित्व की एक लड़ाई छेड़ दी जाती है।

दूसरी समस्या हिंदी के हिंदीपन को लेकर भी रही, जैसे अंग्रेज़ियत का भाव भारत के अपने समाज में श्रेष्ठता और हीनता का एक भेद पैदा करता है। इसी तरह से सरल हिंदी और कठिन हिंदी का भी एक भेद रहा है। राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद के बीच का भाषाई विवाद, हिंदी भाषा की जातीय पहचान के नाम पर उसके भीतर धर्म, सरलता और शुद्धता की लड़ाई का भी उदाहरण हमारे सामने है। जहाँ हिंदी भाषा की एकरूपता को लेकर आपस में ही इतना विवाद बढ़ गया कि उसका लाभ अंग्रेज़ों ने बखूबी उठाया - "राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिव प्रसाद की परस्पर विरोधी नीतियों का दुष्परिणाम यह हुआ कि हिंदी के स्वरूप को लेकर साहित्य क्षेत्र में दो विरोधी मत उठ खड़े हुए। दूसरी ओर सर सैयद अहमद खाँ अदालतों में हिंदी के प्रवेश को रोकने के लिए कटिबद्ध खड़े थे। अँग्रेजों ने हमारे इस आतंरिक कलह का खूब फायदा उठाया। वे तीनों की पीठ थपथपाते रहे क्योंकि हमें आपस में लड़ाना और उससे फायदा उठाना उनकी पुरानी नीति है।"*1

उपरोक्त भाषाई विमर्श का असर आगे भी बना रहा। भाषा की श्रेष्ठता के नज़रिए से प्राचीन परंपरा में सामान्य हिंदी बोलने वालों और संस्कृत बोलने वालों

के बीच का जो फर्क है, वही फर्क किसी ज़माने में, बाद की संविधान सभा के सदस्य डॉ.रघुवीर के निर्देशन में पारिभाषिक शब्दावली निर्माण की परियोजना चली थी। लेकिन उसमें एक समस्या थी कि डॉक्टर रघुवीर संस्कृत के विद्वान थे और उन्हें इस बात का भरोसा था कि संस्कृत को मुख्य स्रोत मानकर भाषा की नई पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करना बेहतर होगा- "ज़ाहिर है कि रघुवीर ने जिस सरकारी हिंदी की नींव डाली उसका आग्रह हिंदी से हिंदी को भी निकाल देने का था।..... "*2

इन विवादों से परे जनता की भाषा के तौर पर औपनिवेशिक भारत में हिंदी, अंग्रेजी की शासन व्यवस्था को चलाने के लिए ज़रूरी थी। इस औपनिवेशिक लड़ाई में हिंदी एक बड़ी आवाज़ थी। इसलिए भी अंग्रेज़ों ने हिंदी को वरीयता प्रदान की- "एच० टी० कोलब्रुक ने 'एशियाटिक रिसर्च' में लिखा था- जिस भाषा का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रांत के लोग करते हैं, जो पढ़े-लिखे तथा अनपढ़ दोनों की साधारण बोलचाल की भाषा है और जिसको प्रत्येक गाँव में थोड़े-बहुत लोग अवश्य समझ लेते हैं, उसी का यथार्थ नाम हिन्दी है।" *3

अंग्रेज़ हमारे देश की संपर्क सूत्र भाषा को जानते थे । इसकी वजह है कि हिंदी अपने लहजे या टोन में दक्षिण भारतीय, बांगला, महाराष्ट्रीयन, बिहारी, हरियाणवी, उत्तर पूर्व इत्यादि भारत के विभिन्न क्षेत्रों को आत्मसात कर लेती है। हिंदी बोलने वालों के लहजे उनकी क्षेत्रीय पहचान को बताते हैं। विभिन्न लहजों से संस्कारित हिंदी भारत व्यापी होने के कारण ही, विश्व में भारतीयों द्वारा इस्तेमाल सहजता के साथ किया जाता है। यह भारतीयों की आपसी बातचीत का जरिया भारत के भीतर और भारत के बाहर भी बन जाती है। "हमारा मानना है कि आज हिन्दी का रथ अपनी स्वयं की रफ़्तार से दौड़ रहा है। हिन्दी चाहे तमिल, तेलुगु, मराठी, अवधी, राजस्थानी व अन्य भाषाओं की तुलना में बहुत प्राचीन नहीं है। हिन्दी में शास्त्रीय साहित्य नहीं है जो पुरातनता के पैमानों पर उसे शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिलाता हो। मगर उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक देश और दुनिया को जोड़ने वाली सम्पर्क भाषा के तौर पर जो बढ़त हिन्दी को हासिल है वह उसकी कम उम्र को देखते हुए गज़ब है। इसका महत्व इस बात में है कि हिन्दी और दूसरी भाषाओं का प्राकृतों से अन्तर्सम्बन्ध है।" *4

हमारी संस्कृति, भोजन, गीत-संगीत, सिनेमा इत्यादि विश्व के आकर्षण का केंद्र रहा है। उदाहरण के लिए भारतीय व्यंजनों को देखें तो, दुनिया भर में हमारे देश के लोगों ने रेस्टोरेंट और दुकान खोले हैं। अगर भारत में पिज़्ज़ा, बर्गर,पास्ता, चाऊमीन इत्यादि विदेशी व्यंजनों की शब्दावली से परिचय हुआ है तो, उसी प्रकार से भारत के इडली, डोसा, गोलगप्पा,टिक्का,आलू पराठा इत्यादि व्यंजनों की शब्दावली से विदेशी लोगों का भी परिचय हुआ है। किसी भी देश की संस्कृति के प्रसार में उसकी कला, व्यंजन और कपड़ों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हिंदुस्तानी संस्कृति ने हिंदी को विश्व भर में पहुँचाया है। इसी तरह दुनिया भर के लोग क्रिकेट की वजह से भारतीय खिलाड़ियों की प्रतिभा के कारण, भारत को अच्छी तरह जानते हैं। विदेशी खिलाड़ी, भारतीयों के रंग में रंग कर, हिंदी गानों और भारतीय व्यंजनों पर हमारी ही भाषाओं में लुत्फ उठाते हैं। विदेशी खिलाड़ी हिन्दी विज्ञापन करते नज़र आते हैं, क्योंकि क्रिकेट में भारत की अपनी धाक है। ऐसे में विदेशी खिलाड़ी हमारी भाषा से जुड़कर गौरव महसूस करते हैं। डेविड वार्नर ने एक विज्ञापन किया था, जिसमें वह पुष्पा राज (तेलुगू सिनेमा का एक प्रसिद्ध किरदार) के तरीके से गुंडो को अपना जलवा दिखाते नज़र आ रहे हैं- "वार्नर द्वारा प्रदर्शित खेल भावना और मनोरंजन का सहज मिश्रण भारतीय सिनेमा और उसके पात्रों की सार्वभौमिक अपील को रेखांकित करता है । पुष्पा राज पर वार्नर का चंचल अंदाज़ न केवल प्रिय पात्र को सम्मान देता है, बल्कि वैश्विक

स्तर पर प्रशंसकों के साथ भी जुड़ता है" *5
इस विज्ञापन में लगभग सारे संवाद डेविड वार्नर हिंदी में बोलते हैं।

आज नई पीढ़ी अपनी ज़रूरत के अनुसार हिंदी भाषा में थोड़ा बहुत बदलाव लाकर, खुद के अनुकूल बना लेती है। 'रैप सिंगिंग' कभी 70 के दशक में अमेरिका के युवा अफ्रीकियों द्वारा शुरू किया गया था। इस विधा को बड़ा मुकाम तब मिला जब इसमें सामाजिक मुद्दे और जीवन के कठिन पहलुओं की रचनात्मक आवाज़ बनायी गयी थी। आज भारतीय युवाओं के बीच यह बहुत लोकप्रिय है। गली ब्वॉय (वर्ष 2019) फिल्म का रैप गीत देखिए- "उठ जा अपनी राख से, तू उड़ जा अब तलाश में, परवाज़ देख परवाने की, आसमान भी सर उठाएगा, आएगा अपना टाइम आएगा" इसमें रैप का हिंदीपन है, जो लगता ही नहीं कि बाहर की शैली है। यही हिंदी की खासियत भी है, जो सहजता के साथ नई विधा के साथ तालमेल बिठा लेती है। इसलिए हिंदी वैश्विक संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा बनने में कामयाब रही है। कामयाबी के नज़रिए से हिंदी विदेशी अखबारों-पत्रिकाओं केलिए और विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए स्थापित हो चुकी है। लेकिन संकट यह है कि विदेशों में जाकर हिंदी से संबंधित गतिविधि करने वाले ज़्यादातर भारतीय हैं। विदेशी भी हैं, लेकिन उनकी संख्या काफी कम है। मनोरंजन, यानी गीत-संगीत और सिनेमा के माध्यम से हिंदी लोकप्रिय तो ज़रूर है लेकिन गंभीर साहित्य के पठन-पाठन की अभिरुचि में अंग्रेज़ी की तरह विदेशों में हिंदी स्थापित नहीं हुई है। स्थिति निराशाजनक तो नहीं कहीं जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकप्रियता के पैमाने से ठोस साहित्यिक संभावनाओं का रास्ता खुलेगा। हिंदी बहुआयामी शैली में तो है, लेकिन उसके किस स्वरूप की प्रसिद्धि में भाषा का मान बढ़ेगा- यह समझना जरूरी है। उपयोगिता और सुविधा की प्राथमिकता में भाषा का अपना स्वरूप खो न जाए।

समस्या इस रूप में भी है कि ज़्यादातर गैर एशियाई देशों को छोड़कर विकसित देशों में शामिल अमेरिका, ब्रिटेन, यूरोप इत्यादि देशों में हिंदी पढ़ने वाले ज़्यादातर प्रवासी भारतीयों के बच्चे हैं, जो भारतीय पहचान को बनाए रखने के लिए अपने बच्चों को हिंदी पढ़वाते हैं। विकसित एशियाई देशों में दक्षिण कोरिया और जापान जैसे देशों के विदेशी विद्यार्थियों की संख्या हिंदी पढ़ने के लिए ज़्यादा है। अमेरिकी और यूरोपीय देशों में शिक्षक के तौर पर विदेशी शिक्षकों की कमी नहीं है, कमी विदेशी विद्यार्थियों की है। भारत के स्कूलों में जर्मन, फ्रेंच, जापानी, चीनी इत्यादि भाषा पढ़ने वाले भारतीयों की अच्छी खासी संख्या है, खासकर भारतीय महानगरों में। लेकिन यही बात विदेश में हिंदी को लेकर लागू नहीं होती है। मनोरंजन जगत में हिंदी सिनेमा की सफलता लगातार दुनिया में बढ़ रही है।

भारतीय शास्त्रीय गायन को लेकर भी पश्चिमी देशों की अभिरुचि काफी रही है। आज हम सोशल मीडिया, यूट्यूब पर विदेशी गायकों की अच्छी खासी संख्या देख सकते हैं जो परंपरागत भारतीय गायन शैली को अपना रहे हैं। स्टीव गोर्न (बांसुरी), जॉन हिगिंस (कर्नाटक गायन),सासि्किया राव-डी हास (भारतीय सेलो), टेरी रिले (हिंदुस्तानी गायन), केन ज़करमैन (सरोद) इत्यादि। जिस प्रकार से भाषा संस्कृति की संवाहिका कही जाती है उसी प्रकार से संस्कृति से जुड़ाव, भाषा तक पहुँचाने का काम करता है। यह पारस्परिक है- "भाषा, अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं, अपितु सांस्कृतिक विकास और विस्तार का भी साधन व माध्यम है। भाषा, सभ्यता और संस्कृति की यह त्रयी प्रत्येक देश के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है। इस त्रयी की साधना और संतुलन जब तक 'बना' रहता है तब तक समाज में सर्वत्र विकासमान स्थिति होती है। इस त्रयी में सबसे बड़ा योगदान भाषा का होता है। भाषा ही वह शक्ति है जो सभ्यता और संस्कृति को परस्पर जोड़ती है।" *6

किसी विकासशील देश के लिए किसी विकसित देश में जाकर अपनी भाषा को जमा पाना

आसान तो नहीं, तथापि इसमें हिंदी अपेक्षाकृत सफल रही है। अंग्रेज़ी का प्रभुत्व उसके ऐतिहासिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों की वजह से बना रहेगा। हिंदी उसके समानांतर व्यापक हो रही है। हिंदी की अस्मिता का संकट उसके अपने देश में ज़्यादा है, जहाँ अंग्रेज़ी के प्रभाव में हिंग्लिश का जन्म हो गया है। लेकिन हमें इसके लिए बहुत ज़्यादा परेशान होने की आवश्यकता नहीं है- "समय आ गया है जब हिंदी को राज का सपना देखना बंद कर देना चाहिए। उसे अब बाज़ार और व्यापार फैलाएँगे। सरकार से ज़्यादा तो हिंदी को मुंबइया सिनेमा ने लोकप्रिय बनाया है। उसका असली संकट यह है कि स्वयं उसके समाज ने उसे वह जगह नहीं दी है, जो उसका लगभग जैविक अधिकार है। इस समाज में बुद्धि, सृजन, विचार आदि सभी का वैभव घट गया है। हिंदी में सृजनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य उच्च कोटि का है। लेकिन वैचारिक अनुशासनों में साहित्य की रचना पहले के मुकाबले कम हुई है।" *7

हिंदी के बहु आयामी स्वरूप को एकांगी करना भी ठीक नहीं होगा। जहाँ से संकट है कई बार समाधान भी वहीं से मिलता है। भारतेंदु ने लिखा था "हिंदी नई चाल में ढली"। हिंदी गद्य को आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण कार्य भारतेंदु ने किया था। भूमंडलीकरण के बाद जिस तेज़ी से सूचना प्रौद्योगिकी का असर भाषा पर हुआ उसने भी "हिंदी को फिर से एक नई चाल में ढाला है", जो भाषा अपने समय के साथ जुड़कर नहीं रहेगी उसके खत्म हो जाने की संभावना सदैव बनी रहेगी। हिंदी ने खुद को अंतर्राष्ट्रीयकरण में शामिल किया है। तकनीक ने अनुवाद करने के इतने सारे सॉफ्टवेयर उपलब्ध करा दिए हैं ,जैसे- चैट जी पी टी, गूगल ट्रांसलेटर इत्यादि ने भाषा की दूरी को बिना किसी औपचारिक ज्ञान के कम कर दिया है। आज ज़्यादातर विदेशी सिनेमा, टीवी चैनलों और ओ टी टी माध्यम पर किसी भी तरह के कार्यक्रम का हिंदी भाषा में अनुवाद उपलब्ध है। संभावना के रूप में बाज़ार के साथ लड़ने के बजाय, बाज़ार में शामिल होकर हिंदी बची रहेगी।

भाषा की शक्ति के रूप में हिन्दी भारत को रेखांकित भी करती है- "तथापि भारत की भाषागत हलचल और विश्व में हिंदी की सक्रिय दस्तक हिंदी के अंतर्राष्ट्रीय रेखांकों के बारे में जो तस्वीरें उभरती हैं वह भारत के भावी भाषा समाज की विश्व भागीदारी के आश्वस्तिदायक संकेत सामने लाती है। आर्थिक और तकनीकी स्तर पर भारत के विकास को विश्व शक्ति के रूप में उभरने के जो संकेत मिल रहे हैं वे भारतीय भाषाओं के नए उदय को भी रेखांकित करते हैं तथा इस विश्व शक्ति के नए उदय के साथ निश्चित रूप से हिंदी जुड़ी हुई है।" *8

हिंदी कोई औपनिवेशिक मानसिकता की भाषा नहीं है, जिसे किसी को अपना उपनिवेश बनाना या अपना प्रभुत्व साबित करना है। वह सहगामिनी है। अपने अस्तित्व का मान बनाए रखना, साथ ही उसको व्यापक फलक देना, भाषा और देश की शक्ति को बढ़ाना है। अंग्रेज़ी की औपनिवेशिक मानसिकता ने हमारे भीतर एक हीनता बोध की ग्रंथि डाल दी है। भाषा की प्रतिष्ठा के लिए अपने देश के भीतर जब तक उसे रोज़गार माध्यमों से नहीं जोड़ा जाएगा, विशेष तौर पर प्राइवेट संस्थाओं के साथ। इसके अलावा सरकारी स्कूलों की स्थितियों में सुधार की बहुत आवश्यकता है। क्योंकि प्राइवेट स्कूलों की पूरी चमक-धमक, उसकी प्रतिष्ठा की एक बहुत बड़ी वजह है। जब गरीबी और भाषा एक दूसरे को प्रतिबिंबित करने लगते हैं तो "भाषा भी वर्गीकृत हो जाती है।" अंग्रेज़ी को नकारा नहीं जा सकता, लेकिन अंग्रेज़ी से सीखा जा सकता है।

भाषाई साम्राज्यवाद का खतरा सिर्फ हिंदी के संदर्भ में नहीं, दुनिया के विकासशील देशों की कई भाषाओं पर यह हावी है। जिसको लेकर कई प्रकार के अध्ययन हो चुके हैं। नव साम्राज्यवाद के इस दौर में भाषा और राजनीति का एक आंतरिक गठजोड़ है। जो बाज़ार के लिए और अपने अनुसार मानसिकता बनाने के लिए मिलकर काम करती है- "फिलिप्सन (2008) ने सही

मायने में बताया कि भाषाई और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रतिच्छेदन गैर-अंग्रेज़ी भाषी आबादी पर पश्चिमी विचारधाराओं और संस्कृति को थोपने के लिए अंग्रेजी के एक उपकरण के रूप में प्रभुत्व में स्पष्ट है। उन्होंने आगे बताया कि 60 से अधिक देशों की आधिकारिक भाषा के रूप में अंग्रेज़ी, राजनीतिक और आर्थिक आधिपत्य स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जो राजनीतिक साम्राज्यवाद की याद दिलाती है। मानकीकृत भाषाओं और क्षेत्रीय बोलियों के बीच जटिल संबंध सांस्कृतिक विशिष्टता और प्रमुख भाषाई मानदंडों की अनुरूपता के बीच तनाव को उजागर करता है।" *9

प्रतिरोध, सांस्कृतिक समन्वय और संघर्ष के बीच ही भारतीय नवजागरण का उदय हुआ था। भाषा के सशक्तिकरण के लिए हमें अपने जज्बे को चीन, जापान या जर्मनी की भांति बनाना होगा। यह बहस सिर्फ पत्रिकाओं और संगोष्ठियों में ना रह जाए इसके लिए यह जानना जरूरी है कि हमने भाषा और राष्ट्रीयता को कितना एक दूसरा का पूरक माना है और उसके लिए कितना व्यवहारिक और सारगर्भित कार्य किए हैं।

निष्कर्ष- वैश्विक संस्कृति और साम्राज्यवादी संस्कृति में किस तरह के विचार हमारी राष्ट्रीयता और अस्मिता पर प्रभावी हो जाएँगे, यह कहना मुश्किल है। जो बर्ताव भाषा के साथ है, वैसे ही हमारे गीत-संगीत, नृत्य, बाज़ार इत्यादि पर विदेशी प्रभाव हावी है। लेकिन हमें भूमंडलीकरण के दौर में कूप मंडूक मानसिकता से बने नहीं रहना है। सूचना और संस्कृति के लगातार परिवर्तन और अतिरेक में अपनी अस्मिता को भी बचाए रखना है। अस्मिता को बनाए रखने में भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग की भूमिका को शामिल करना होगा।

हिंदी की उत्तरोत्तर बढ़ती संभावना हमारी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, बाज़ार और घरेलू विकास पर निर्भर करती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि हमारी देशभक्ति अपनी मातृभाषा के साथ गौरवान्वित महसूस करे।

संदर्भ:-

1) अमरनाथ, हिंदी जाति की समस्याएँ, hindisamay.com

2) समाज-विज्ञान विश्वकोश, संपादक-अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2013, पेज-(1151-1152)

3) डॉ.हरदेव बाहरी, हिंदी भाषा, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2000,पेज-155

4) भाषाओं की उलझन सियासत ने पैदा की है वो क्या सुलझाएगी?, अजित वडनेरकर,भाषाशास्त्री और वरिष्ठ पत्रकार,https://www.bbc.com/hindi/india-48508984

5) https://m.economictimes.com/magazines/panache/david-warner-channels-pushpa-raj-allu-arjun-reacts-to-cricketers-latest-viral-ad/articleshow/110904869.cms

6) डॉ.पूरन सहगल, संपादक-डॉ.मुकुंद द्विवेदी, भारतीय भाषाएं और राष्ट्रीय अस्मिता, हिंदी अकादमी,दिल्ली संस्करण-2001, पेज-214

7) अशोक वाजपेयी,विश्व बाजार में हिंदी, संपादक द्वय-महिपाल सिंह,देवेंद्र मिश्र,ब्रह्म प्रकाशन,दिल्ली, संस्करण-2010,पेज-21

8) डॉ.गंगा प्रसाद विमल, विश्व बाजार में हिंदी, संपादक द्वय-महिपाल सिंह, देवेंद्र मिश्र, ब्रह्म प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2010,पेज-44

9) Somayeh Razmjoo Moghadam and Ghasem Barani*, The impact of linguistic vs. cultural imperialism on language learning, page-06, frontiers journal, 29 Jan 2025.

◆प्रोफेसर, हिंदी विभाग

शहीद भगत सिंह कॉलेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मो.- 9312154532

ई.मेल: kumarbhaskar2008@gmail.com

कला और यथार्थ का संगम: मछुआरों की ज़िंदगी पर आधारित सिनेमा का अध्ययन

◆आर. सरोजिनी



शोध-सार: सिनेमा जिसे 'समाज का दर्पण' भी कहा जाता है, एक कला है। यह एक सशक्त माध्यम है जो दर्शकों के सामने वास्तविक जीवन की भावनाओं और वास्तविकताओं को प्रस्तुत करता है। यहाँ कला और वास्तविकता दोनों का मिश्रण है जहाँ निर्देशकों द्वारा संघर्ष, विश्वास और उम्मीदों को प्रस्तुत किया जाता है। मछुआरों को आम तौर पर मेहनती, विनम्र और समुद्र में चुनौतियों का सामना करनेवालों के रूप में दर्शाया जाता है। वे संघर्ष और अस्तित्व के प्रतीक हैं। मछली पकड़ना केवल उनका व्यवसाय नहीं है, बल्कि जीवन का एक हिस्सा है जो उनकी आजीविका चलाने में उनकी मदद करता है। वे जोखिम भरा जीवन जीते हैं। सिनेमा मछुआरों के समुद्र में संघर्ष, व्यक्तिगत जीवन और समुद्र के साथ उनके जुड़ाव को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। चित्रपट पर दिखाए गए कला और वास्तविकता का यह मिश्रण हमें मछुआरों के जीवन को जानने और समझने का मौका देता है और उनकी जीवनशैली को हमारे सामने रखता है। इस प्रकार मछुआरों का सिनेमा उनके मानवीय मूल्यों, संस्कृति, वास्तविकता, सपनों और उम्मीदों की उपस्थिति को प्रस्तुत करता है। यह केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है बल्कि हमारे बीच रहने वाले लोगों के जीवन का एक हिस्सा है। इस प्रकार उनका जीवन हमें सिखाता है कि हमेशा उम्मीद की किरण होती है

मूल आलेख :

नीरपरवै चलचित्रः

इस चलचित्र की शुरुआत एक बूढ़ी महिला की पुलिस जाँच से शुरु होती है, क्योंकि उसके बगीचे में कंकाल पाए गए थे। वह अपने अतीत के बारे में बताती है और कहानी तटीय क्षेत्र से संबंधित एक लड़के (अरुलप्पासामी) से शुरू होती है, जो **एस्तेर** से प्यार करने लगता है। अरुलप्पासामी एक लक्ष्यहीन व्यक्ति है जो पूरे दिन शराब पीता रहता है। वह एक मेहनती दंपति का बेटा है, जिन्होंने उसे गोद लिया था और एस्तेर भी एक अनाथ लड़की है, जिसे सिस्टर बेनिता ने गोद लिया था। लेकिन अरुलप्पासामी अपनी आदतों को बदलकर एक मेहनती मछुआरा बनना चाहता है, ताकि वह एस्तेर का सम्मान हासिल कर सके और गाँव के सामने गर्व के साथ उससे शादी कर सके, जो उसे एक अयोग्य व्यक्ति समझते थे।

एस्तेर अरुलप्पासामी को यह बात बताती है जब उसे अपमान किया गया :

तुम्हारे पिताजी से मिलकर आई हूँ। वे चाहते हैं तुम समुद्र में जाकर मछली पकड़ो, कहीं और जाकर नौकरी करोगे तो नौकर कहलाओगे, मगर खुद मछली पकड़ोगे तो तुम किसी के नौकर नहीं खुद के मालिक होंगे। मैं तुम्हें मलिक के रूप में देखना चाहती हूँ। [1]

"मुझे भरोसा है तुम मेरी बात मानोगे। समुद्र में जाकर मछली पकड़ने शुरू करो।" [2]

लेकिन स्थानीय मछुआरे उसे समुद्र में जाने की अनुमति नहीं देते। अरुलप्पासामी दृढ़ निश्चयी है और वह एक सहानुभूतिपूर्ण नाव निर्माता उदैमान गानी से नाव खरीदता है। उदैमान गानी से नाव माँगते समय अरुलप्पासामी यह बताता है :

"मैं आपको परेशान करने नहीं आया हूँ और ना ही पैसे माँगने आया हूँ। आपसे एक मदद चाहिए भाई। मुझे एक बोट दे दो भाई!" [3]

इस प्रकार वह लोगों को यह दिखाते हुए एस्तेर से शादी करता है कि वह कैसे एक बदला हुआ व्यक्ति है। एक दिन अरुलप्पासामी मछली पकड़ने जाता है, लेकिन वापस नहीं लौटता। एस्तेर चिंतित हो जाती है और आखिरकार उसे उसका शव मिलता है, जिस पर गोली चलाई गई थी। वह शव को घर वापस लाती है और उसे दफना देती है। अरुलप्पासामी की मृत्यु के बारे में जानने के बावजूद, पत्नी एस्तेर उसकी वापसी

के लिए प्रार्थना करती रहती है और सबको बताती है कि शरीर समुद्र-तटपर लौट आया है लेकिन आत्मा अभी भी समुद्र में है। उसका कथन है :

"सिर्फ उनका बदन किनारे तक पहुँचा है, पर उनकी जान... "[4]

नीर परवै में चित्रित मछुआरों की जिंदगी :

नीर परवै (2013), सीनू रामसामी द्वारा निर्देशित एक तमिल चलचित्र है जो एक मछुआरे की कहानी को प्राकृतिक तरीके से बताती है। कहानी प्रेम, विश्वास, अस्तित्व और बलिदान को दर्शाती है। यह फिल्म की पृष्ठभूमि तटीय क्षेत्र के पास एक गाँव में स्थित है जहाँ उनका व्यवसाय समुद्र के इर्द-गिर्द घूमता है। यह फिल्म लोगों द्वारा उनके जीवन के हर पहलू में सामना किए जाने वाले संघर्षों और कठिनाइयों को दिखाती है। साथ ही यह दैनिक जीवन पर विस्तार से बताती है और समुद्र को उनकी आजीविका के स्रोत के रूप में दिखाती है। मछली पकड़ने को एक श्रमसाध्य और अप्रत्याशित पेशे के रूप में दिखाया गया है। साथ ही जलवायु और मछलियों की पकड़ लोगों की आय निर्धारित करता है। वित्तीय स्थिरता फिल्म का एक विषय है।

मछुआरे की कहानियाँ संघर्ष, अस्तित्व से संबंधित हैं। इस प्रकार यह विश्वास के विचार के इर्द-गिर्द घूमती है। फिल्म में महिला पात्रों को आस्था या ईश्वर की स्तुति करने वालों व्यक्ति के रूप में दर्शाया गया है। लेकिन जहाँ तक पुरुष पात्रों की बात है तो वे उत्साही, खेलप्रेमी और जोखिम उठाने वाले हैं। मछुआरे समुदाय के साथ एक और महत्वपूर्ण मुद्दा शराबखोरी है। यह दर्शाता है कि यह मछुआरे के परिवार पर कैसा प्रभाव डालता है, जो अपने तनाव से निपटने के लिए नियमित रूप से शराब पीता है, वह अपने परिवार और बच्चों के भविष्य को कैसे नष्ट करता है।

मछुआरा परिवारों की महिलाओं को अपने प्रियजनों का भरण-पोषण करने के लिए कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनका धैर्य उनके समुदाय की महिलाओं के लचीलापन को दर्शाता है। साथ ही मछुआरों के समर्थन में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता है जो अपने जीवन को जोखिम में डालते हैं। मछली पकड़ने के अधिकारों पर विवाद सहित तटीय समुदायों की दुर्दशा एक अंतर्निहित चिंता का विषय है।

मरियान

मरियन जोसेफ कन्याकुमारी के नीरोडी गाँव का एक आक्रामक व्यक्ति है जो मछली पकड़कर अपना जीवन यापन करता है। समुद्र के साथ उसके जुड़ाव के कारण उसे कडल रासा (अर्थात् समुद्र का राजा) कहा जाता है। उसे पनीमलर प्यार करने लगती है, शुरू में वह कोई प्रतिक्रिया नहीं देता। लेकिन अंततः वह प्यार में पड़ जाता है। तीक्कुरिसी, वहाँ के स्थानीय साहूकार पनिमलर के पिता द्वारा लिए गए भारी कर्ज के बदले में उससे शादी करना चाहता है। पनिमलर के पिता से साहूकार ने यही बताया : "तुम्हारे ऐसे बैठने से कुछ नहीं होगा। कई सालों से तुमने मेरा उधार भी नहीं चुका । मगर मैं चुप रहा। अब उस कर्ज के बदले तुम मुझे पनी से शादी करा।" [5]

इसलिए मरियन सूडान, उत्तरी अफ्रीका में नौकरी लेता है लेकिन वहाँ चीज़ें अपेक्षा के अनुरूप नहीं हैं क्योंकि उसे और अन्य तीन श्रमिकों को पैसे के लालच में स्थानीय मिलिशिया द्वारा बंधक बना लिया जाता है। 21 दिनों के बाद, वह अपने सहकर्मी सामी के साथ भाग जाता है। लेकिन वह सामी से अलग हो जाता है और अंत में अपने गाँव लौटता है जहाँ पनीमलर उसकी वापसी का इंतज़ार कर रही है।

मरियान में चित्रित मछुआरों की ज़िंदगी :

भरत बाला द्वारा निर्देशित मरयान तमिलनाडु के तटीय क्षेत्र और सूडान के रेगिस्तान की पृष्ठभूमि पर आधारित है। यह मछुआरों द्वारा सामना किए जाने वाले वित्तीय संघर्षों पर प्रकाश डालता है जो कर्ज से निपटने के लिए अपने प्रियजनों और मूल स्थान को छोड़ देते हैं। वे साहूकारों द्वारा भी शोषित होते हैं जो बड़ी ब्याज दर लेकर उन्हें वित्तीय दबाव में डाल देते हैं। इस प्रकार वे अपनी परिस्थितियों से निपटने के लिए असुरक्षित नौकरियाँ करते हैं। यह पनिमलर और मरयान के बीच की बातचीत में यह निर्णय हुआ कि नौकरी के लिए विदेश जाना है-

"प : तुम कितना खुश रहता था, यह समुद्र में अपने दोस्तों के साथ। अब सब छोड़ कर जा रहा है। केवल मेरी वजह से।

म :तेरी वजह से नहीं, तेरे लिए जा रहा हूँ। रो मत!"[6]

ऐसे पुरुषों द्वारा सामना किए जाने वाले विस्थापन से उनमें भावनात्मक रूप से होने वाले नुकसान का पता चलता है। वे अपने पारंपरिक व्यवसाय से परे आजीविका की तलाश करते हैं। फिल्म में एक घटना यह भी है कि मरयान खुद समुद्र में फँस जाने के बाद मृत्यु के करीब पहुँच जाता है। यह कब्जे में छिपे खतरे को स्पष्ट करता है।

कडल

थॉमस एक विद्रोही लड़का है जो अपनी माँ की मृत्यु के बाद एक कठिन प्रतिवेश में पल रहा है। वह एक स्थानीय मछुआरे का बेटा है और उसे एक दयालु फादर सैम फर्नांडो द्वारा मार्गदर्शन दिया जाता है। थॉमस बियाट्रिस से प्यार करने लगता है।

थॉमस, बर्गमैन के हाथों में पड़ जाता है जो पिता सैम से बदला लेना चाहता है। थॉमस गाँव वालों से मछली पकड़ने के व्यापार की तरकीबें जानता है और बर्गमैन की मदद करता है और गलत काम करने के लिए प्रेरित होता है। अंत में उसे अपनी गलतियों का एहसास होता है और वह अच्छाई का पक्ष लेता है।

कडल में चित्रित मछुआरों की जिंदगी :

फिल्म की शुरुआत में आजीविका के लिए समुद्र के पास रहने वाले लोगों की कच्ची तस्वीर दिखाई जाती है। खतरे का सामना करने के लिए ज़रूरी बहादुरी को भी दिखाया गया है। मछुआरे समुदाय के बंधन और मज़बूत संरचना को दर्शाया गया है। वे परंपराओं, संघर्षों और उत्सवों को भी साझा करते हैं।

मछुआरे के जीवन में आस्था प्रमुख भूमिका निभाती है। फादर सैम और बीट्राइस समस्याओं के बीच अच्छे पक्ष और नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शक की ज़रूरत को दर्शाते हैं। यह फ़िल्म पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही गरीबी को भी उजागर करती है। थॉमस अपने विरासत में मिली परिस्थितियों के संघर्ष और कठिनाइयों से आगे बढ़ता है। इस प्रकार अच्छाई और बुराई के बीच युद्ध को तटीय पृष्ठभूमि में दर्शाया गया है।

सिटिज़न

उच्च स्तरीय व्यक्तियों का अपहरण कर लिया जाता है और इससे शहर में हंगामा मच जाता है। अपहरणकर्ता अब्दुल्ला है जो कई भेष धारण करता है। एक फ्लैशबैक सामने आता है जहाँ एक तटीय गाँव को सरकारी अधिकारियों, कलेक्टर, पुलिस अधिकारियों और न्यायाधीशों सहित एक समूह द्वारा नष्ट कर दिया जाता है जो भूमि को जब्त करने की योजना बनाते हैं। कलेक्टर को उन्होंने अपनी स्थिति के बारे में यह बताया :

"साहब, पूर्व से पानी आया तो पश्चिम की तरफ भागते हैं। उत्तर दिशा से आए तो दक्षिण की तरफ भागते हैं। लेकिन चारों तरफ से पानी हमें गिरकर जीना मुश्किल कर दिया।" [7]

वे पूरे गाँव को मार देते हैं और बचे हुए लोग असहाय छोड देते हैं। अब्दुल्ला उन बचे हुए लोगों में से एक है और अपने लोगों के साथ हुए अन्याय का बदला लेना चाहता है। वह नरसंहार के लिए ज़िम्मेदार प्रत्येक व्यक्ति का अपहरण करता है और मुकदमा चलाता है। अंत में अब्दुल्ला का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

सिटिज़न में चित्रित मछुआरों की जिंदगी :

फिल्म का फ्लैशबैक मछुआरे समुदाय के सरल जीवन को दर्शाता है और कैसे उनका जीवन समुद्र में एकता और कड़ी मेहनत पर चलता है। यह फिल्म दिखाती है कि मछुआरे जैसे साधारण लोगों का शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा शोषण किया जाता है। जब उन्हें अपनी जगह छोड़ने के लिए कहा जाता है तो वे सोचते हैं :

"हम दूसरी जगह पर कैसे टिकेंगे ? बोलो बाबा! हम लोग यहाँ से जाएँगे तो दूसरे ही पल मर जाएँगे।" [8]

वे निवासियों के अधिकारों और जीवन की अवहेलना करते हैं और ग्रामीणों की ज़मीन हड़पने की योजना बनाते हैं। कलेक्टर लोगों को यह उपाय देते हैं :

"मेरी बात को मान जाओ और इस जगह को फौरन खाली कर दो। कहीं दूर जाकर बस जाओ। इसका इंतज़ाम में कर सकता हूँ। मैं बस इतना ही कर सकता हूँ।" [9]

मछुआरे भ्रष्टाचार के सामने असहाय हैं और जब वे विस्थापन का विरोध करते हैं तो वे इस क्रूर नरसंहार के शिकार बन जाते हैं। अब्दुल्ला नामक एक दृढ़

निश्चयी व्यक्ति मछुआरों की दुर्दशा का खुलासा करता है तथा उनके साथ हुए अन्याय को उजागर करता है। इस प्रकार यह हाशिए पर पड़े समूह के शोषण पर शक्तिशाली संदेश देता है। अदालत में अब्दुल्ला के शब्द :

"अत्तिपट्टी की एक एक अंतिम सांस मेरे सीने के अंदर अब तक महसूस है। गहरा समुद्र मेरे बाहर नहीं अंदर है। इस अदालत में गूँजने वाली मेरी आवाज़ मिटा दिए गए पूरे गाँव की आखिरी आवाज़ है। मेरा रोना मेरा नहीं 800 लोगों का है। मेरे अंदर की आग मेरी नहीं मेरे पूरे गांव की है। मैं अकेला नहीं हूँ तड़पा तड़पा के मारे जाने वाले उन 800 लोगों की आत्मा है।" 10

इयरकई

एस पी जननाथन द्वारा निर्देशित 'इयरकई' (2003) एक प्रेम प्रसंगयुक्त नाटक है, जो एक तटीय गाँव में स्थित है। मरुदु, एक नाविक, तटीय जिला रामेश्वरम में आता है। वह नैन्सी से प्यार करता था, जो अपनी खोई हुई मंगेतर के लिए विलाप करती है। नैन्सी को उम्मीद है कि उसका मंगेतर, एक नाविक जो सालों पहले लापता हो गया था, वापस आ जाएगा, लेकिन फिर भी वह मरुदु के लिए एहसास करने लगती है। लेकिन जब नैन्सी मरुदु को प्यार करने शुरू करती है, तो उसका मंगेतर अरुण कुमार अप्रत्याशित रूप से वापस आ जाता है और उसे दोनों के बीच उलझा कर छोड़ देता है।

इयरकई में चित्रित मछुआरों की ज़िंदगी :

फिल्म ने प्यार, लालसा और नियति के विषयों की खोज की है, जिसमें समुद्र जीवन की अप्रत्याशितता के रूपक के रूप में काम करता है। मार्मिक अंत सच्चे प्यार के बलिदान और भावनात्मक जटिलताओं को दर्शाता है। फिल्म समुद्र की सुंदरता और मछुआरे के दैनिक संघर्ष को दर्शाती है। साथ ही, यह समुद्र पर निर्भरता को दर्शाती है, जो इसके इनाम और खतरे दोनों को उजागर करती है। फिल्म में मछुआरों के सरल जीवन को दर्शाया गया है, जिसमें उनके घर, कपड़े और उनकी जीवन-शैली शामिल है। फिल्म में समुदाय के बंधन और अप्रत्याशित मौसम, वित्तीय संघर्ष और उनके काम के शारीरिक बोझ को भी दिखाया गया है।

इसके अलावा यह फिल्म मछुआरे समुदाय की आस्था, विश्वासों को छूती है, जिसमें उनके रीति-रिवाज़ और अंधविश्वास शामिल हैं, जो समुद्र के साथ उनके व्यवहार और जीवन की अनिश्चितताओं से निपटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार इयरकई ने मानवीय भावनाओं और पर्यावरण के साथ मिश्रित तटीय जीवन का यथार्थवादी चित्रण किया है। इसने तमिल में सर्वश्रेष्ठ फीचर फिल्म के लिए राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार जीता।

निष्कर्ष:

फिल्मों में मछुआरों के जीवन का चित्रण मानवीय लचीलापन, सामाजिक मुद्दों और प्रकृति के साथ संबंधों पर प्रकाश डालता है। मछुआरे शारीरिक और मानसिक दृढ़ता के प्रतीक हैं। उनके काम में लंबे घंटे, अप्रत्याशित मौसम और उच्च शारीरिक माँग शामिल हैं। वे समुद्र के साथ घनिष्ठ संबंध रखते हैं क्योंकि वे समुद्र की सेवा करते हैं। मछुआरे अपनी कला के साथ सांस्कृतिक विरासत को मिलाकर सदियों पुरानी परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। उनका जीवन उनके परिवारों के साथ जुड़ा हुआ है और समुदाय एक सहायता प्रणाली बना रहा है। अपनी कड़ी मेहनत के बावजूद मछुआरे आर्थिक अस्थिरता, शोषण और आधुनिकीकरण के खतरों का सामना करते हैं। उनके जीवन में संघर्ष के बावजूद आशा और दृढ़ संकल्प झलकता है। हालांकि अक्सर अनदेखा किया जाता है, मछुआरे राष्ट्रों को भोजन उपलब्ध कराने और समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र को संरक्षित करने वाले नायक हैं। इसलिए मछुआरों का वर्णन करते समय, उनकी मानवता और उनके शिल्प और पर्यावरण के साथ संबंध को दर्शाते हुए सहानुभूति के साथ यथार्थवाद का मिश्रण करना महत्वपूर्ण है।

संदर्भ :

1 नीरपरवै (Neerparavi), Directed by Seenu Ramasamy, performances by Vishnu Vishal and Sunaina, Red Giant Movies, 2012

In text Citation: (Neerparavi 00 : 57 : 21)

2 नीरपरवै (Neerparavi 00 : 57 : 44)

3 नीरपरवै (Neerparavi 01 : 13 : 42)

4 नीरपरवै (Neerparavi 01 : 43 : 30)

5 मरियान (Maryan), Directed by Bharat Bala, performances by Parvathy Thiruvothu and Dhanush, Aascar Films, 2013

In text Citation: (Maryan 00 : 44 : 46)

6 मरियान (Maryan 00 : 54 : 05)

7 सिटिज़न (Citizen), Directed by Saravana Subbiah, performances by Ajith Kumar and Vasundhara Das, NIC Arts, 2001

In text Citation: (Citizen 01 : 54 : 46)

8 सिटिज़न (Citizen 01 : 58 : 20)

9 सिटिज़न (Citizen 01 : 56 : 27)

10 सिटिज़न (Citizen 02 : 28 : 35)

◆ शोधार्थी (हिन्दी विभाग),
गांधीग्राम ग्रामीण संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय),
गांधीग्राम, तमिलनाडु
ई.मेल- sarojiniravi8@gmail.com
मो.7448351839

मध्यकालीन हिंदी भक्तिकाव्य परंपरा में कवयित्रियाँ : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन



◆ **तनु सिंह**

शोध सारांश: यह शोध पत्र मध्यकालीन हिंदी भक्ति साहित्य में कवयित्रियों के ऐतिहासिक, सामाजिक और साहित्यिक योगदान का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। मध्यकालीन पितृसत्तात्मक समाज में कवयित्रियों का उदय केवल धार्मिक घटना नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक विद्रोह था। भक्ति के माध्यम से उन्होंने अपने स्वत्व की पहचान की और सामाजिक बंधनों को चुनौती दी। इस शोध में मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई और ताज बीबी के योगदान का विशेष अध्ययन किया गया है। मीरा की माधुर्य भक्ति सामाजिक-सामंती व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर बनी, जबकि सहजोबाई और दयाबाई ने ज्ञान, योग और गुरु-भक्ति के माध्यम से निर्गुण भक्ति को समृद्ध किया। ताज बीबी ने कृष्णभक्ति के माध्यम से सांप्रदायिक सौहार्द का संदेश दिया। इन कवयित्रियों ने लोकभाषाओं के प्रयोग से साहित्य को जनसामान्य से जोड़ा। अतः मध्यकालीन महिला कवयित्रियाँ आधुनिक स्त्री-विमर्श की महत्त्वपूर्ण आधारशिला हैं। उनका काव्य केवल भक्ति और विरह तक सीमित न होकर स्त्री की स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और आध्यात्मिक समानता की अभिव्यक्ति है। इनके योगदान के बिना हिंदी भक्ति साहित्य का इतिहास अधूरा है।

मूल शब्द: भक्ति आंदोलन, स्त्री-विमर्श, पितृसत्तात्मक, लोक-जागरण, निर्गुण।

प्रस्तावना: मध्यकालीन भारतीय इतिहास केवल राजनीतिक संघर्षों और राजवंशों के उत्थान-पतन का इतिहास नहीं, बल्कि सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक चेतना का भी युग था। इसी चेतना की महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति भक्ति आंदोलन में हुई। कबीर, तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों के साथ कवयित्रियों ने भी भक्ति साहित्य को समृद्ध किया। उनका उदय उस समय हुआ, जब स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था, पर्दा प्रथा, सती प्रथा, वैधव्य, लोक-लाज और कुल-मर्यादा जैसी सामाजिक बाधाओं से घिरी थीं। भक्ति आंदोलन ने उन्हें अपनी स्वतंत्र आध्यात्मिक पहचान व्यक्त करने

का अवसर दिया। कवयित्रियों की भक्ति केवल ईश्वर-प्रेम नहीं थी, बल्कि यह स्वत्व, स्वतंत्रता एवं सामाजिक रूढ़ियों के विरोध का माध्यम भी बनी। मीराबाई इसका सबसे प्रभावशाली उदाहरण हैं। उन्होंने राजसी जीवन और कुल-मर्यादा को त्यागकर कृष्ण को अपना सर्वस्व माना। *"पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे"* में उनका नृत्य केवल भक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक बंधनों से मुक्ति का प्रतीक है। सहजोबाई, दयाबाई, ताज बीबी, शेख रंगरेजिन, बावरी साहिबा, गौरी बाई और गंगा सती जैसी कवयित्रियों ने भी इस परंपरा को आगे बढ़ाया।

इन रचनाकारों ने भक्ति के माध्यम से लैंगिक, धार्मिक तथा सामाजिक सीमाओं को चुनौती दी। उनकी भाषा सरल, सहज तथा जनसामान्य से जुड़ी थी। राजस्थानी, ब्रजभाषा और लोकभाषाओं के प्रयोग ने उनके साहित्य को व्यापक लोकप्रियता प्रदान की। इस प्रकार महिला कवयित्रियों की भक्ति आधुनिक स्त्री-अस्मिता और सामाजिक चेतना की प्रारंभिक आधारभूमि बनी।

मीराबाई : भक्ति और सामाजिक विद्रोह

मीराबाई भक्त कवयित्रियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। लगभग 1498 ई. में राजस्थान के कुड़की में जन्मी मीरा की भक्ति **माधुर्य भाव** पर आधारित थी। वे कृष्ण को अपना पति और सर्वस्व मानती थीं-

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।।"[1]

मीरा ने पारिवारिक मर्यादाओं और राजसी जीवन की सीमाओं को अस्वीकार कर संतों की संगति अपनाई। उनके काव्य में प्रेम, विरह और आत्मसमर्पण के साथ स्वतंत्रता की तीव्र आकांक्षा दिखाई देती है। विष का प्याला दिए जाने की कथा भी उनके अटूट विश्वास और निर्भीकता का प्रतीक है। इस प्रकार मीरा की भक्ति व्यक्तिगत आस्था के साथ सामाजिक विद्रोह का रूप लेती है।

सहजोबाई : निर्गुण भक्ति और गुरु-महिमा

चरणदास की शिष्या सहजोबाई ने निर्गुण भक्ति को दार्शनिक गहराई प्रदान की। उनकी प्रमुख रचना 'सहज प्रकाश' है। वे गुरु को ईश्वर से भी श्रेष्ठ मानती थीं—

"राम तजूं पै गुरु न बिसारूँ,
गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ।"[2]

उनके काव्य में संसार की नश्वरता, वैराग्य और आत्मज्ञान प्रमुख हैं। उनकी सरल भाषा ने गंभीर आध्यात्मिक विचारों को सामान्य लोगों तक पहुँचाया।

दयाबाई : करुणा और नैतिकता

सहजोबाई की गुरु-बहन दयाबाई ने 'दया बोध' और 'विनय मालिका' के माध्यम से भक्ति को करुणा और नैतिकता से जोड़ा। उन्होंने अहंकार और बाहरी कर्मकांड के स्थान पर हृदय की शुद्धता तथा दया को महत्त्व दिया। उनका काव्य आत्मसंयम, विनम्रता और मानवता का संदेश देता है।

ताज बीबी : सांप्रदायिक सौहार्द

ताज बीबी मुस्लिम पृष्ठभूमि की कृष्णभक्त कवयित्री थीं। उनका कृष्ण-प्रेम मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के गंगा-जमुनी स्वरूप का उदाहरण है-

"नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
हौं तो मुगलानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं।"[3]

उन्होंने धार्मिक पहचान की सीमाओं से ऊपर उठकर कृष्ण को अपना आराध्य माना। उनका काव्य सांप्रदायिक सौहार्द और धार्मिक उदारता का संदेश देता है।

शोध की आवश्यकता

हिंदी साहित्येतिहास लेखन में लंबे समय तक पुरुष रचनाकारों को केंद्र में रखा गया तथा कवयित्रियों के योगदान को 'गौण' या 'भावुकता मात्र' मानकर हाशिए पर धकेल दिया गया इस शोध की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से है:

- स्त्री चेतना का पुनर्पाठ: यह समझना आवश्यक है, कि मध्यकालीन स्त्रियाँ भक्ति के माध्यम से अपनी किन दमित इच्छाओं और सामाजिक बंधनों से मुक्ति पा रही थी।
- इतिहास की विसंगतियों को दूर करना: मीराबाई

के अतिरिक्त अन्य कवयित्रियों, जैसे- दयाबाई, सहजोबाई और बावरी साहिबा के दार्शनिक योगदान को रेखांकित करना अनिवार्य है।

- सांस्कृतिक हस्तक्षेप का अध्ययन: भक्ति काल की इन महिलाओं ने किस प्रकार सगुण और निर्गुण शाखाओं के मध्य अपना स्वतंत्र मार्ग विकसित किया, इसका विश्लेषण समकालीन स्त्री-विमर्श के लिए आवश्यक है।

शोध प्रश्न अथवा शोध के उद्देश्य

यह शोध निम्नलिखित प्रमुख प्रश्नों अथवा उद्देश्यों पर आधारित है:

- मध्यकालीन महिला कवयित्रियों ने किस प्रकार सामाजिक और पारिवारिक बाधाओं को पारकर अपनी काव्य यात्रा पूर्ण की?
- इन कवयित्रियों के काव्य में 'विद्रोह' और 'समर्पण' का क्या संबंध है?
- क्या उनकी भक्ति केवल व्यक्तिगत मोक्ष की कामना थी या वह तत्कालीन पितृसत्तात्मक ढाँचे को एक मूक चुनौती थी?
- इनकी काव्य भाषा तथा शिल्प (जैसे- पद शैली, राग-रागनियाँ) संबंधी विशेषताओं का व्यापक विश्लेषण।

साहित्यिक समीक्षा

मध्यकालीन हिंदी भक्ति साहित्य में कवयित्रियों का मूल्यांकन सामाजिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मीराबाई को प्रमुख भक्त माना, जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने '*हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास*[4] *में* भक्ति आंदोलन को लोक-जागरण से जोड़ते हुए कवयित्रियों की वाणी को सामाजिक चेतना तथा अनुभव की अभिव्यक्ति माना। डॉ. सुमन राजे की *'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास'*[5] ने पुरुष-केंद्रित साहित्य-इतिहास पर प्रश्न उठाते हुए मीरा के साथ सहजोबाई, दयाबाई, बावरी साहिबा और शेख रंगरेजिन जैसी कवयित्रियों को भी साहित्यिक विमर्श में स्थान दिया।

आधुनिक आलोचकों-नामवर सिंह और बच्चन सिंह- ने मीरा के विरह को स्त्री के अकेलापन और स्वतंत्र अस्तित्व की आकांक्षा से जोड़ा। सुशीला टाकभौरे ने कवयित्रियों के साहित्य में सामाजिक न्याय और स्त्री-अस्मिता को रेखांकित किया। वर्तमान शोध में मीराबाई के साथ सहजोबाई और दयाबाई जैसी निर्गुण कवयित्रियों के दार्शनिक चिंतन, गुरु-भक्ति और आत्मज्ञान पर भी ध्यान दिया जा रहा है। इस प्रकार साहित्यिक समीक्षा अब कवयित्रियों के अधिकार, अस्मिता, सामाजिक प्रतिरोध और स्त्री चेतना के व्यापक अध्ययन की ओर बढ़ रही है।

शोध प्रविधिः

प्रस्तुत शोध मुख्यतः गुणात्मक, विश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक-आलोचनात्मक पद्धति पर आधारित है। इसका उद्देश्य मध्यकालीन भक्ति साहित्य में कवयित्रियों के साहित्यिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक योगदान का अध्ययन करना है। शोध के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोतों में मीराबाई की पदावली, सहजोबाई का *'सहज प्रकाश'*, दयाबाई का *'दया बोध'* तथा ताज बीबी, बावरी साहिबा आदि के उपलब्ध पदों का अध्ययन किया गया है। द्वितीयक स्रोतों के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. सुमन राजे तथा अन्य आलोचकों के ग्रंथों और शोध-पत्रों का उपयोग किया गया है। शोध में स्त्रीवादी साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रमुख आधार बनाया गया है, जिससे पितृसत्तात्मक समाज में कवयित्रियों की आत्माभिव्यक्ति, स्वतंत्रता और सामाजिक प्रतिरोध को समझा जा सके। साथ ही, सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति की कवयित्रियों की तुलना के लिए तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया गया है।

पूर्व में किए गए शोध कार्यः

मध्यकालीन कवयित्रियों के संबंध में पूर्व में अनेक महत्त्वपूर्ण शोध कार्य हुए हैं। डॉ. सरला शुक्ल ने *'मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ और उनका योगदान'*[6]

के माध्यम से कवयित्रियों के साहित्यिक एवं दार्शनिक पक्ष को सामने रखा। सुशीला टाकभौरे ने *'मध्यकालीन कवयित्रियों का सामाजिक संघर्ष'* [7] में उनके सामाजिक संघर्ष और स्त्री चेतना पर प्रकाश डाला। सोनम रानी ने *'मध्यकालीन साहित्य में नारी विमर्श'* [8] के माध्यम से उपेक्षित कवयित्रियों के सामाजिक प्रतिरोध को रेखांकित किया। इसके अतिरिक्त सहजोबाई और बावरी साहिबा जैसी निर्गुण संत कवयित्रियों की साधना और दर्शन पर भी अध्ययन हुए हैं। मीराबाई पर शोध की संख्या अधिक है, किंतु अन्य कवयित्रियों के साहित्यिक योगदान, सामाजिक संघर्ष, भाषा-शैली और दार्शनिक चिंतन पर अपेक्षाकृत कम कार्य हुआ है। प्रस्तुत शोध इसी शोध-अंतर को ध्यान में रखते हुए कवयित्रियों के व्यापक योगदान का अध्ययन करता है।

निष्कर्ष : मध्यकालीन हिंदी भक्ति साहित्य में कवयित्रियों ने केवल भक्ति की अभिव्यक्ति नहीं की, बल्कि स्त्री-अस्मिता, स्वतंत्रता और सामाजिक प्रतिरोध को स्वर दिया। मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई और ताज बीबी जैसी कवयित्रियों ने पितृसत्तात्मक रूढ़ियों, सामंती बंधनों और धार्मिक संकीर्णताओं को चुनौती देते हुए आध्यात्मिक स्वतंत्रता को अपनाया। उनकी भक्ति व्यक्तिगत आस्था के साथ सामाजिक चेतना का भी माध्यम बनी।

इन कवयित्रियों ने साहित्य को शास्त्रीय जटिलता से मुक्तकर लोकभाषा और लोक-संवेदना से जोड़ा। उनकी सरल, सहज और भावपूर्ण भाषा आज भी जनमानस में लोकप्रिय है। मीरा की कृष्णभक्ति, सहजोबाई का ज्ञान और दयाबाई की करुणा इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

अतः मध्यकालीन कवयित्रियाँ आधुनिक स्त्री-विमर्श की महत्त्वपूर्ण पूर्वपीठिका हैं। उन्होंने सिद्ध किया, कि भक्ति, ज्ञान और आत्माभिव्यक्ति किसी जाति, धर्म या लिंग की सीमा में बंधी नहीं हैं। हिंदी साहित्य का इतिहास इन महिला रचनाकारों के योगदान के बिना अधूरा है।

सन्दर्भ सूची

1. चतुर्वेदी, परशुराम. *मीराबाई की पदावली*. साहित्य भवन, 1992.
2. बाई, सहजो. *सहज प्रकाश*. खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई, 2008.
3. सिन्हा, सावित्री. *मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ*. हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1953.
4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. *हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास*. राजकमल प्रकाशन, 2004.
5. राजे, सुमन. *हिंदी साहित्य का आधा इतिहास*. भारतीय ज्ञानपीठ, 2003.
6. शुक्ल, सरला. "मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ और उनका योगदान." *अकादमिक शोध संचयन*, 2002.
7. टाकभौरे, सुशीला. "मध्यकालीन कवयित्रियों का सामाजिक संघर्ष." *स्त्री विमर्श पत्रिका*, खंड 12, अंक 4, 2015, पृष्ठ 22-35.
8. रानी, सोनम. "मध्यकालीन साहित्य में नारी विमर्श." *सोशल रिसर्च फाउंडेशन*, खंड 5, अंक 10, 2020.

◆◆ शोधार्थी,
हिंदी विभाग (दिल्ली विश्विद्यालय)
गेस्ट फैकल्टी (NCWEB, दिल्ली विश्वविद्यालय)
मोबाइल नं. : 8750850960
ई-मेल: tanuamar43@gmail.com

मुद्रकतथा प्रकाशक:डॉ.पी.लता, आरती, टी.सी. 14/1592, फोरस्ट ऑफिस लेन, वषुतक्काटु, तिरुवनन्तपुरम -14 द्वारा संपादिततथा प्रकाशित; अबी प्रकाशनएन्ड प्री-प्रेस, करुमम्, तिरुवनन्तपुरम -2 में मुद्रित।
Printed & Published by Dr.P.Letha, Arathi, T.C. 14/1592, Forest Office Lane, Vazhuthacaud, Thiruvananthapuram -14, Printed at Abi Design & Pre-Press. Karumom. Thiruvananthapuram -2 & Edited by Dr. P. Letha